

ये तो सोचा ही नहीं

(नैतिक मूल्यों का दिग्दर्शक उपन्यास)

लेखक :

अध्यात्मरत्नाकर पण्डित रतनचन्द भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., बी.एड.
प्राचार्य, श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय
ए-४, बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५

फोन : (०१४१) २७०५५८१, २७०७४५८

प्रकाशकीय : (तृतीय संस्करण)

अध्यात्मरत्नाकर, सिद्धान्तसूरि, लेखनी के जादूगर, जैनरत्न, शिक्षारत्न आदि अनेक उपाधियों से अलंकृत पण्डित रतनचन्द भारिल्ल की सरल सुबोध शैली में लिखित कृति 'ये तो सोचा ही नहीं' नैतिक मूल्यों पर आधारित, अध्यात्मज्ञान की ओर अग्रसर करनेवाली अपने ढंग की अनूठी पुस्तक है। मात्र ६ माह के अल्प समय में इसका तृतीय संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता है। इसकी लोकप्रियता का इससे अधिक प्रमाण और क्या हो सकता है।

पुस्तक को पढ़ने के पहले यदि इसकी प्रस्तावना को पढ़ लिया जाय तो पूरी पुस्तक पढ़ने की प्रेरणा स्वतः मिल जायेगी। पुस्तक का प्रत्येक अध्याय आपको यह सोचने को बाध्य करेगा कि - 'अरे! ये तो हमने सोचा ही नहीं।' इससे पाठकों को बहुत कुछ ऐसी नवीन जानकारी प्राप्त होगी, जिसके विषय में पाठकों ने कभी सोचा ही नहीं होगा, गंभीरता से विचार किया ही नहीं होगा।

चारों गतियों और चौरासी लाख योनियों में मानव जीवन ही सर्वश्रेष्ठ है, उसमें भी स्वस्थ शरीर, सोचने की शक्ति, उत्तम कुल एवं अध्यात्म रुचि की प्राप्ति अति दुर्लभ है, सौभाग्य से वे सब साधन हमें सहज सुलभ हो गये हैं, परंतु उसका बहुभाग रोटी, कपड़ा और मकान की समस्या-सुलझाने में ही चला जाता है।

यद्यपि लोक में यह भी एक ऐसी अनिवार्य आवश्यकता है, जिसके बिना परलोक के कल्याण की बात सोचना असंभव नहीं तो कठिन तो है ही। फिर भी सोचना तो पड़ेगा ही, अन्यथा पता नहीं यह दुर्लभता से प्राप्त चिन्तामणि सा बहुमूल्य मानव जीवन संसार सागर में कहाँ डूब जाय? यह भी तो विचारणीय है।

इसके अतिरिक्त इस कृति से आवश्यक मार्गदर्शन भी प्राप्त होगा, एतदर्थ आप इस कृति को अवश्य पढ़ें।

— ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.

प्रकाशन मंत्री : श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर जयपुर-१५

प्रस्तावना

— पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

3

यदि आपके मन में ऐसा प्रश्न उठे कि - 'ऐसा क्या है इस कृति में - जिसके लिए अपना बहुमूल्य समय बर्बाद किया जाय' तो इस प्रस्तावना के चार पृष्ठ आप अवश्य पढ़ लें। संभव है ये पृष्ठ पढ़ते ही आपको पूरी पुस्तक पढ़ने का भाव जग जाय और आपको बहुत कुछ ऐसा ज्ञान मिल जाय, जिससे आप कह उठें कि 'ये तो सोचा ही नहीं' तथा यह कृति आपके जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन ला दे, आपको आनन्द की अनुभूति से भर दे।

इस उपन्यास का एक-एक पात्र अपने जीवंत आचार-विचार से आपको कुछ न कुछ ऐसा संदेश देगा जो आपके लिए सुखद और सफल जीवन जीने को न केवल प्रेरित करेगा; बल्कि मार्ग दर्शन भी देगा।

वस्तुतः लौकिक सुखमय जीवन के लिए जितनी जरूरत पैसे की है, उससे कहीं अधिक आवश्यकता मानसिक संतुलन की है; क्योंकि मानवीय दुःख दो तरह के होते हैं - एक दैहिक दुःख और दूसरा मानसिक दुःख। पहला दुःख दूर करने का सम्बन्ध भौतिक अनुकूलताओं से है और दूसरा दुःख दूर करने का उपाय आध्यात्मिक ज्ञान है, जिसकी चर्चा इस कृति में की गई है।

यदि हम आर्थिक अनुकूलता के द्वारा भौतिक सुख और मानसिक शान्ति चाहते हैं तो हमें पुनर्जन्म में आस्था रखते हुए अहिंसक और सदाचारी जीवन जीना होगा। आजीविका हेतु भी ऐसे शुभ काम करने होंगे, जिनसे पुण्यार्जन हो। निर्दयता, बेईमानी छल-कपट धोखाधड़ी जैसे पाप परिणामों से हमें बचना ही होगा, अन्यथा इन परिणामों का फल तो मुख्यतया तिर्यचगति है, जिसके दुःख हम प्रत्यक्ष देख ही रहे हैं।

पुण्य से धनादि के अनुकूल संयोग तो मिलेंगे ही, मानसिक संतोष भी मिलेगा। घर-बाहर में विश्वास बढ़ेगा और यशस्वी जीवन जीने के साथ हमें पारलौकिक आत्मकल्याण के निमित्त कारण भी मिलेंगे।

अफसोस यह है कि न जाने क्यों, हम मात्र वर्तमान जीवन को सुखद करने के प्रयत्नों में ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति एवं समय झोंक रहे हैं, जबकि यही

जन्म सब कुछ नहीं है, इस जन्म के पहले भी हम थे और मृत्यु के बाद भी रहेंगे। यद्यपि इस जन्म में स्थिर आजीविका भी अतिआवश्यक है, इसके बिना परलोक सम्बन्धी आत्मोद्धार की बात सोचना असंभव नहीं तो कठिन तो है ही। अतः आजीविका का मुद्दा भी कम महत्वपूर्ण नहीं है, पर यही सब कुछ नहीं है। यदि इसे ही सब कुछ मान भी लिया जाय तो इसमें भी सफलता के लिए सद्भाग्य अपेक्षित है, और वर्तमान का सत्कर्म ही भविष्य के सद्भाग्य का निर्माता है, अतः इसके लिए भी अध्यात्मज्ञान का आलंबन अनिवार्य है।

यदि हम काम-क्रोध-मद-मोह आदि विकारों से मुक्त होना चाहते हैं, तो विश्व व्यवस्था को समझना होगा, चाहे वह विश्व व्यवस्था ऑटोमेटिक हो या ईश्वर कृत हो। दोनों ही स्थितियों में यह तो निश्चित ही है कि उस भले-बुरे कार्य के कर्ता हम तुम नहीं हैं, यदि ऐसा स्वीकार कर लिया जाये तो हमारे क्रोधादि विकार स्वतः समाप्त हो जायेंगे; क्योंकि जब हम दूसरों को अपने अहित का कर्ता मानते हैं, तो क्रोध आता है, हित का कर्ता मानते हैं तो उस पर प्रेम उमड़ता है, राग होता है। जब यह मान लिया जाय कि हम पर के कर्ता-हर्ता नहीं हैं और दूसरे हमारे सुख-दुःख के दाता नहीं हैं तो क्रोधादि होंगे ही नहीं।

यदि पुण्य-पाप पर ही विश्वास हो जाय तो भी अपने पुण्य-पाप के फलानुसार ही भला-बुरा हुआ। अड़ौसी-पड़ौसी फिर भी निरपराधी रहे। इस तरह वे किसी भी हालत में क्रोधादि के पात्र नहीं हैं। अतः लौकिक और पारलौकिक सुख-शान्ति के लिए उक्त सिद्धान्तों पर विचार करें, इन्हें अपनायें और सुख पायें।

अन्त में मैं इस कृति के प्रणयन के संदर्भ में भी समीक्षकों को यह बता देना चाहता हूँ कि - चि. शुद्धात्म प्रकाश ने अपने बिजनिस सेमीनार में ओजस्वी भाषण देते हुए जब नैतिक मूल्यों के संदर्भ में मेरी कृति "इन भावों का फल क्या होगा" का उल्लेख किया तो सहस्रों श्रोताओं में सहज जिज्ञासा हो गई और उनके द्वारा उक्त कृति की माँग आने लगी, परन्तु उक्त कृति में शास्त्रीय शब्दों के प्रयोग के कारण उन सामान्य पाठकों को पूरा विषय ग्रहण करने में बहुत कठिनाई हुई, अतः उनकी ओर से इसके सरलीकरण हेतु रूपान्तरण करने का प्रेसर आने लगा।

रूपान्तर के प्रयास में अनेक नवीन नैतिक मानवीय मूल्यों का समावेश तो हो ही गया, लगभग सम्पूर्ण कृति का कायाकल्प भी हो गया। कृति का कायाकल्प होने जाने से इसका नाम रखा गया - **ये तो सोचा ही नहीं।** ●

आत्मकथ्य

4

यदि हम चाहते हैं लोक-परलोक में सच्चा सुख,
तो भूलकर भी दूसरों को कभी न पहुँचाओ दुःख ।
इसीलिए तो कहा है ऋषियों ने, मुनियों ने -
'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'
दूसरों द्वारा दिया दुःख यदि हमें नहीं है स्वीकार -
तो दूसरों को दुःख देने का हमें नहीं है अधिकार ॥१॥

अध्यात्म के ज्ञान बिना हमारे मन में राग-द्वेष होते हैं ।
विषय सुखों में मग्न होकर हम मोहनीद में सोते हैं ॥
सर्वोत्तम मानव जीवन को यों ही व्यर्थ खोते हैं ।
बुढ़ापे में अपनी करनी पर पछताते हैं और बिलख-बिलख रोते हैं ॥
अन्तिम समय में दीन-दुःखी-असहाय होकर मृत्यु सेज पर सोते हैं ।
और इसी दुर्ध्यान के फलस्वरूप संसार सागर में खाते गोते हैं ॥२॥

कोई भी व्यक्ति किसी अन्य का भला-बुरा नहीं करता है,
व्यक्ति तो पर के सुख-दुःख में निमित्त मात्र बस बनता है ।
जो होना है वह निश्चित है अध्यात्म शास्त्रों में यह समझाया है,
जिसने जैसा बीज बोया उसने वैसा फल पाया है ॥
सृष्टि रचना के ये सिद्धान्त जब सभी धर्म बतलाते हैं,
फिर क्यों हम अपने मानस में ईर्ष्या की आग जलाते हैं? ॥३॥

यदि सभी अध्यात्म शास्त्र यही संदेश देते हैं,
जिन्हें हुआ आत्मज्ञान वे शीघ्र ही मुक्ति पद पाते हैं ।
आत्म ज्ञान बिना शास्त्र ज्ञान काम नहीं आता है,
देवपूजा आदि नाना क्रिया-कर्म भी निरर्थक जाता है ।
जिसे आत्मज्ञान नहीं, भले वह शास्त्र समुद्र में लगा रहा गोता है,
तो भी वह शास्त्रों का ज्ञाता नहीं, वह तो केवल रडू तोता है ॥४॥

जो अपने व पराये प्राण हनते और झूठ बोलते हर्षित होते हैं,
चौर कर्म करते विषयों में रमते परिग्रह में आनंदित होते हैं ।
जो जुआ जैसे दुर्व्यसनों में रमते मदिरापान करते हैं,
राग-द्वेषवर्द्धक वार्ताओं में ही दिन-रात रमते हैं ॥
वे इन छोटे भावों के फल में रोगी शरीर का भार ढोते हैं,
और पीड़ा चिन्तन करते हुए दिन-रात रोते हैं ॥५॥

सचमुच क्या हम पशुओं से गये बीते हैं?
बुद्धिबल से बिल्कुल ही रीते हैं ।
नहीं, नहीं, कौन कहता है कि हम किसी से कम या अधूरे हैं,
हम तो स्वभावतः सभी आत्मिक गुणों से भरे-पूरे हैं ॥
हाँ, हम अभी बिना तरासे चैतन्य हीरे हैं,
तरासने की तैयारी कर रहे धीरे-धीरे हैं ॥६॥

प्रत्येक काम करने के पहले प्रभू को याद करें,
ईमानदारी से काम करने का संकल्प करें ।
परिश्रम करने में किंचित भी प्रमाद न करें,
प्रसन्नता, उत्साह और समर्पण में कमी न करें ।
आज का काम आज ही करें कल पर न छोड़ें;
काम को कठिन मानकर उसे करने से मुँह न मोड़ें ॥७॥

हमने स्वयं अपराध किए और दूसरों को कोसा,
ज्ञानी गुरुओं की वाणी पर किंचित् नहीं किया भरोसा ।
पहन रखा था हमने पर कर्तृत्व के अहंकार का चोगा,
इसी कारण अबतक चतुर्गति का दुःख भोगा ॥
देते रहे हम स्वयं को धोखा ही धोखा,
ये सोचा ही नहीं इन भावों का फल क्या होगा? ॥८॥

- पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

क्या/कहाँ?

एक

१. प्रेम सम्बन्ध हों, पर ऐसे	०९
२. अपने-अपने भाग्य का खेल	१४
३. सच्ची प्रीति पैसे की मुँहताज नहीं होती	२२
४. अच्छे अवसर द्वार खटखटाते आते हैं	२९
५. तथ्य एवं सत्य को समस्या मत बनने दो	३८
६. जो जस करै सो तस फल चाखा	४८
७. छोटे भावों का फल क्या होगा?	५३
८. पैसा बहुत कुछ है, पर सब कुछ नहीं	५८
९. सही साध्य हेतु सही साधन आवश्यक	६३
१०. विचित्र संयोग पुण्य-पाप का	६८
११. पति के स्थान की पूर्ति संभव नहीं	७८
१२. अब पछताये क्या होत है, जब	८८
१३. पाप से घृणा करो, पापी से नहीं	९२
१४. किसने देखे नरक	९८
१५. हार में भी जीत छिपी होती है	१०८
१६. भूत की भूलों को भूल जाओ	११५
१७. सफल व्यापारी कौन?	१२१
१८. आर्तध्यान के विविध रूप	१२४
१९. बहुत सा पाप पाप सा नहीं लगता	१२८
२०. ये तो सोचा ही नहीं	१३९
२१. करनी का फल तो भोगना ही होगा	१४४
२२. सच्चा मित्र वह जो दुःख में साथ दे	१५३
२३. ज्ञानेश तो बस ज्ञानेश ही है	१५८
२४. सफलता का रहस्य	१६४

प्रेम संबंध हों, पर ऐसे

बी.ए. अन्तिम वर्ष में आते-आते ज्ञानेश के सभी साथी उसके अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व से भली-भाँति परिचित हो चुके थे। बहुत से साथी उसकी सरलता, सज्जनता, निःस्वार्थ सेवा की भावना, परोपकार की प्रवृत्ति और सभी दुर्व्यसनों से सदा दूर रहने के कारण उससे प्रभावित भी थे। उदण्ड और ऊधमी छात्र भी उसका आदर करते थे। अपने इन्हीं गुणों के कारण वह कॉलेज का सर्वमान्य-निर्विरोध नेता भी बन गया था; पर उसने अपने सहज स्वभाव से किसी को कभी ऐसा महसूस नहीं होने दिया कि - “मैं अन्य छात्रों से कुछ विशेष हूँ।”

हर बात को, हर वस्तु को और हर घटना को देखने के दो पहलू हो सकते हैं, जहाँ फूल हैं वहीं कांटे भी हैं, जो फूलों के पक्ष को देखते हैं, वे खुश रहते हैं और जो कांटों-कांटों को ही देखते हैं, वे दिन-रात रोते ही रहते हैं।

इतनी समझ तो अनपढ़ कुम्हार जैसे लोगों में भी होती है कि उन्हें गधे जैसे मन्दबुद्धि पशु में भी उसकी मन्दबुद्धि की कमी नहीं दिखती; बल्कि उसकी ईमानदारी, सीधापन, परिश्रमशीलता और शुद्ध शाकाहारी होने के गुण ही दिखाई देते हैं। तभी तो वे उसका प्रेमपूर्वक पालन-पोषण और उपयोग करते हैं।

काश ! हम भी गधे के जीवन से उपर्युक्त गुण ग्रहण कर लें तो इस दुनिया का नक्शा ही बदल सकता है।

यद्यपि ज्ञानेश अभी २२-२३ वर्ष का ही होगा; परन्तु वह अपने आत्मविश्वास, गंभीरता, उदारता, निशंकता और निर्भयता आदि

विशेषताओं के कारण २५-२६ वर्ष जैसा लगता था। उसे अपने पिता धमेन्द्र द्वारा बचपन से ही नैतिकता का पाठ पढ़ाया गया था। इस कारण वह भारतीय संस्कृति और धार्मिक संस्कारों से ओत-प्रोत था।

--

--

--

कॉलेज में सहशिक्षा थी। छात्र-छात्रायें एकसाथ पढ़ते थे; परन्तु ज्ञानेश ने कभी किसी छात्रा की ओर आँख उठाकर नहीं देखा। अन्य छात्रों की भाँति छात्राओं से बात करने के मौके खोजना, उनके साथ घूमना-फिरना, होटल आना-जाना तो उसके लिए कल्पना से भी परे की बात थी। इस कारण अनेक चंचल स्वभाव की छात्राओं ने तो उसका नाम ही भोलानाथ रख लिया था; पर सुनीता उसके इन्हीं गुणों से प्रभावित थी। वह ज्ञानेश की इन्हीं विशेषताओं पर रीझ गई थी। वह ऐसे ही आदर्श जीवनसाथी की कल्पना अपने मन में संजोये थी।

परन्तु ज्ञानेश से बात करने की उसकी हिम्मत नहीं होती। क्या कहे? कैसे कहे? बात करने का कोई ठोस बहाना या आधार भी तो चाहिए न? उसे भय था कि 'ज्ञानेश से बात करने से वह कहीं झिड़क न दे, सर्खी-सहेलियाँ उसकी हँसी न उड़ाने लगें, कोई देखेगा तो पता नहीं क्या-क्या मनगढ़न्त कल्पनायें करने लगेगा?' इसतरह न जाने कितने विकल्प उठा करते उसके मन में।

संयोग से दोनों की कक्षायें भी अलग-अलग थीं। क्लासरूमों के रास्ते भी अलग-अलग थे। मिलने का सहज संयोग संभव नहीं था। मात्र वार्षिकोत्सव में ही एक मंच पर मिलना होता था।

सौभाग्य से इस वर्ष ज्ञानेश के हाथ में ही सांस्कृतिक कार्यक्रमों का संचालन था और सुनीता को अपनी टीम के साथ नाटक का मंचन करना था। नाटक की निर्देशिका एवं नायिका स्वयं सुनीता थी। नाटक

के मंचन में सुनीता की प्रस्तुति प्रशंसनीय रही। सभी छात्रों को उसे बधाई देने के बहाने बात करने का मौका मिल गया। ज्ञानेश का मन भी हुआ - पर वह चाहते हुए भी संकोच में रह गया। परन्तु सुनीता ने ज्ञानेश के हाव-भाव से उसके मनोभावों को ताड़ लिया, अतः उसने ही हिम्मत करके ज्ञानेश से पूछ लिया - कैसा लगा हमारे नाटक का मंचन? ज्ञानेश का अति संक्षिप्त उत्तर था - "नाटक नाटक जैसा लगा।"

सुनीता ने बात को आगे बढ़ाते हुए कहा - "मैं कुछ समझी नहीं।"

ज्ञानेश ने पुनः एक वाक्य में ही उत्तर दिया - "इसमें न समझने जैसी बात ही क्या है? नाटक नाटक की दृष्टि से बहुत अच्छा लगा।"

नाटकों में नायक-नायिका का चरित्र तो आदर्श के रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है। काश! पात्रों के यथार्थ जीवन-चरित्र भी ऐसे ही आदर्श हो जाएँ, तब तो फिर पृथ्वी पर ही स्वर्ग उतर आयेगा। परन्तु

सुनीता ने अपनी सफाई में कहा - "यह सब जो आपने देखा, वह सब मेरा और मेरे परिवार का यथार्थ (सच्चाई) ही है। मैं दिखावे में विश्वास कम ही करती हूँ, जितने भी दृश्य आपने नाटक में देखे, वे सब मेरे पारिवारिक जीवन की यथार्थ कहानी हैं।"

ज्ञानेश ने कहा - "यदि ऐसा है तब तो अति उत्तम बात है। मुझे भी ऐसे ही चरित्र पसन्द हैं।"

सुनीता ज्ञानेश की पसन्दगी से कुछ-कुछ आशान्वित हुई। उसे लगा कि "धीरे-धीरे मैं ज्ञानेश के हृदय में अपना स्थान बना लूँगी।" इसी आशा से सुनीता ने ज्ञानेश को अपने बर्थ-डे पर आमंत्रित किया।

सुनीता का आमंत्रण पाकर ज्ञानेश सुनीता के बर्थ-डे पार्टी में

सम्मिलित तो हो गया; परन्तु पता नहीं क्यों अन्यत्र व्यस्तता का कारण बताकर वह थोड़ी देर ही रुका। बर्थ-डे प्रजेन्ट के रूप में 'आत्मोन्नति कैसे करें' नामक पुस्तक भेंट करके शीघ्र चला गया।

ज्ञानेश के आने से सुनीता को तो हार्दिक प्रसन्नता हुई ही, उसके माता-पिता का भी ज्ञानेश के व्यक्तित्व के प्रति सहज आकर्षण हो गया।

ज्ञानेश ने जाते-जाते सुनीता से धीरे से कहा - "तुम भी हमारे घर आओ न कभी ! मेरे मम्मी-पापा तुम से मिलकर बहुत खुश होंगे। उन्हें तुम जैसी लड़कियाँ बहुत अच्छी लगती हैं।"

"ऐसा मुझमें क्या है ?" सुनीता ने कहा।

यह तो मैं नहीं जानता; पर तुम्हारा सरल स्वभाव, सादगीपूर्ण रहन-सहन, भारतीय पहनावा, धार्मिक रुचि तथा पूर्वाग्रहों से रहित विचार - ये सब बातें मम्मी-पापा की रुचि के अनुकूल हैं। वे तुम्हें अपने बीच पाकर बहुत खुश होंगे।

सुनीता ने कहा - "ठीक है, आपकी मम्मी-पापा की खुशी के लिए मैं आऊँगी; परन्तु मैं अपनी सहेली की सुविधा के अनुसार ही आ सकूँगी। देखती हूँ उसे कब समय मिलता है।"

ज्ञानेश ने कहा - "यदि सहेली को समय एवं सुविधा न हो तो फोन पर बता देना।" मैं स्वयं लेने आ जाऊँगा।"

"आप का कहना सही है; परन्तु आपको कष्ट करने की जरूरत नहीं पड़ेगी।" मैं स्वयं ही सहेली के साथ आ जाऊँगी।

"ठीक है, मैं प्रतीक्षा करूँगा।"

-- -- --

सुनीता ने एक बार अपने प्रोफेसर के भाषण में सुना था कि - "कोई कितना भी चिर-परिचित क्यों न हो ? नजदीकी रिश्तेदार और

अत्यन्त विश्वसनीय ही क्यों न हो; फिर भी नर-नारी का एकसाथ एकान्तवास दोनों के सदाचार और शील सुरक्षा की दृष्टि से खतरे से खाली नहीं है। इसमें किसी व्यक्ति विशेष का अधिक दोष नहीं होता। यह उम्र ही ऐसी होती है, जिसमें जरा सी सावधानी हटी और दुर्घटना घटी। अतः किसी भी नर और नारी को यथासंभव एकान्त में एकसाथ नहीं रहना चाहिए; किसी अन्य पुरुष के साथ कहीं आना-जाना नहीं चाहिए।"

बस, तभी से सुनीता प्रोफेसर के कथन को अक्षरशः पालन करती आ रही है। ज्ञानेश भी तभी से इसी नैतिक मूल्य के अन्तर्गत कॉलेज में लड़कियों से सदैव दूर ही रहता है।

फिर भी न जाने क्यों ? उसका हृदय भी सुनीता की ओर आकर्षित हुए बिना नहीं रहा। अब ज्ञानेश व सुनीता तन से दूर रहकर भी मन से एक-दूसरे के नजदीक हैं।

जिनकी जैसी होनहार होती है, जिसके-जिनके साथ जैसे संस्कार होते हैं, उसका उनके साथ सहज ही वैसा बनाव बन जाता है।

ज्ञानेश के बर्थ-डे पर बधाई देने के बहाने अपने वायदे के अनुसार सुनीता भी अपनी सहेली के साथ ज्ञानेश की बर्थ-डे पार्टी में सम्मिलित हुई।

सुनीता को आया देख ज्ञानेश को तो हर्ष हुआ ही; उसके मम्मी-पापा भी सुनीता की सादगी, सरलता, गंभीरता और उसका हंसमुख मुख मण्डल देख हर्षित हुए। सुनीता ने ज्यों ही ज्ञानेश के माता-पिता का चरणस्पर्श किया तो ज्ञानेश की मम्मी ने उसे सहज ही स्नेहवश गले से लगा कर सदा सुखी रहने और अपने लक्ष्य में सफल होने का मंगल आशीर्वाद दिया।



दो

9

अपने-अपने भाग्य का खेल

ज्ञानेश और धनेश एक ही मुहल्ले के रहनेवाले थे। एक ही साथ खेले और मैट्रिक तक एक ही स्कूल में साथ-साथ पढ़े थे। बचपन में दोनों की दाँत-काटी रोटी थी। दोनों एक-दूसरे के लिए अपनी जान देते थे और एक-दूसरे का वियोग दोनों को बर्दाश्त नहीं था। पर न जाने क्यों ? किशोरवय में कदम रखते-रखते दोनों की विचारधाराओं में पूरव-पश्चिम जैसा महान् अन्तर आ गया। इसे भी अपने-अपने भाग्य का खेल ही समझना चाहिए।

ज्ञानेश ने तो ग्रेजुएशन के बाद पढ़ना ही छोड़ दिया और धनेश टेक्नीकल ऐजुकेशन में चला गया। धनेश ने कॉलेज में एम.बी.ए. की पढ़ाई तो पूरी कर ली; पर दुर्भाग्य से वह धीरे-धीरे भौतिकता की चकाचौंध में अधिक उलझ गया। इसकारण अब उसे धनार्जन करने के लिए चौबीस घंटे भी कम पढ़ने लगे। बिड़ला और बजाज जैसे बड़े-बड़े उद्योगपतियों की होड़ में अनेक फैक्ट्रियाँ तो डाल ही लीं, कई कम्पनियाँ भी खोल लीं। साथ ही पुण्ययोग से पिता के पारम्परिक विजनेस शेयर मार्केट में भी टॉप पर पहुँच गया।

जब पुण्य का सूरज उगता है तो व्यक्ति उगते हुए सूर्य की भाँति चारों ओर से ऊपर उठता जाता है, किन्तु उसे उस समय यह भान नहीं रहता कि जिसतरह दिन के पूर्वाह्न में निरन्तर ऊँचे को चढ़नेवाला सूर्य दिन के उत्तराह्न में उसी तेजी से नीचे भी जाता है। उसी तरह जीवन के पूर्वाह्न में जो पुण्योदय का सूरज ऊपर चढ़ रहा था, जीवन के उत्तराह्न

में पापोदय में परिवर्तित होकर नीचे की ओर आने वाला है; क्योंकि किसी के भी सभी दिन एक जैसे नहीं रहते। कहा भी है -

‘सबै दिन जात न एक समान’

देखो, सिद्धान्तों से कभी सौदा-समझौता नहीं करना चाहिए; क्योंकि धर्म परम्परा नहीं, प्रयोग है, कुलाचार नहीं, स्वपरीक्षित साधना है।

पूर्व संस्कारों से यह बात ज्ञानेश के रोम-रोम में समाई थी। इसी कारण ज्ञानेश भौतिक वातावरण से भी अप्रभावित रहा और अपने पिता के कुलधर्म एवं लोक प्रचलित रूढ़िवादी परम्पराओं के प्रभाव से भी अछूता रहा। धर्म के विषय में भी वह पिता की परम्परागत लीक छोड़कर निष्पक्ष होकर निरन्तर धर्म के यथार्थ स्वरूप की गहराई तक पहुँचने के प्रयास में लगा रहा।

ज्ञानेश के पिता धर्मेन्द्र पुरातन पन्थी थे, परम्पराओं की लीक पर चलने में ही उनका विश्वास था।

पिता के पुरातनपन्थी, परम्पराओं की लीक पर चलने सम्बन्धी विचारों के संदर्भ में ज्ञानेश का यह कहना था कि - “धार्मिक नियमों का दृढ़ता से निर्वाह करना बहुत अच्छी बात है। सैद्धान्तिक कट्टरता भी बुरी बात नहीं है; परन्तु वह कट्टरता सुपरीक्षित एवं सुविचारित होनी चाहिए। बिना परीक्षा किये, बिना विचार किये किसी भी कुल परिपाटी को धर्म मानकर उसी लीक पर चल पड़ना और उससे टस से मस न होना - यह कोई धर्म का मार्ग नहीं है।

पर ऐसे कट्टरपंथियों को कैसे समझाये, जो किसी की कुछ सुनना ही नहीं चाहते, अपनी लीक से हटना ही नहीं चाहते?’

ज्ञानेश के पिता रूढ़िवादी पुरातन पंथियों में अग्रगण्य थे, उन्हें धर्म-कर्म में मीन-मेख करना बिल्कुल पसंद नहीं था। इस मामले में ज्ञानेश एवं उसके पिता कभी एकमत नहीं हो पाये; फिर भी ज्ञानेश ने अपने पिता की मान-मर्यादाओं का कभी उल्लंघन नहीं किया।

ज्ञानेश के पिता ने तथाकथित धर्मगुरुओं से यह सुन रखा था कि धर्म के मामले में मीन-मेख करने एवं शंका-आशंका प्रगट करने से अनर्थ हो जाता है, पाप भी लगता है; इसकारण उनकी धारणा बन गई थी कि धर्म तो श्रद्धा-भक्ति का विषय है, उसमें तर्क-वितर्क करना ही क्यों ?

ज्ञानेश के माता-पिता धर्मभीरु थे, इसकारण कुल परम्परागत लीक छोड़कर चलना, धर्म के बारे में शंका-आशंका करना उनके बलबूते की बात नहीं थी। उन्हें डर लगता था कि उनके किसी व्यवहार से साधु-संत, धर्मगुरु और देवी-देवता नाराज न हो जायें। उनकी इसप्रकार की धर्मभीरुता ज्ञानेश को रास नहीं आ रही थी।

ज्ञानेश के पिता अपनी धार्मिक अज्ञानता को छिपाने के लिए बड़े गर्व से कहा करते “अध्यात्म की बातें हमारी समझ में भले न आएँ, पर हम धर्मकार्यों में कभी पीछे नहीं रहे। हमने अपनी पीढ़ियों से चली आई परम्पराओं को कभी नहीं छोड़ा। यही कारण है कि आज हमारा खानदान सदाचारी है; अन्यथा बिगड़ने में देर ही क्या लगती है ?”

यद्यपि यह सच है कि - इस धार्मिक आतंक से उनके परिवार का जीवन दुर्व्यसनों से दूर रहा; पर केवल इस कुलाचाररूप बाह्य धर्मप्रवृत्ति को ही धर्म मानकर जो वे मन ही मन संतुष्ट हो लेते और स्वयं को धर्मात्मा मानकर हर्षित होते, गौरवान्वित होते - यह बात ज्ञानेश की अन्तरात्मा को स्वीकृत नहीं होती; अतः उसने संकल्प किया कि - “मैं पिताजी के विचारों से भी अप्रभावित रहकर धर्म की सच्चाई की

10

तह तक पहुँचने का पूरा-पूरा प्रयास करूँगा, धर्म के नाम पर किसीप्रकार के पोपडम और आडम्बर में अटका नहीं रहूँगा और यदि संभव हुआ तो पिताश्री को भी धर्म के सत्य तथ्यों को समझाने का प्रयास करूँगा।”

ज्ञानेश बिना सोचे-विचारे परम्परागत लीक पर चलनेवालों में नहीं है। ‘लीक छोड़ ही चलत हैं, शायर सिंह सपूत’।

वह सोचता है कि प्रत्येक कुल का, प्रत्येक जाति का, प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक सम्प्रदाय का धर्म अलग-अलग कैसे हो सकता है ? धर्म का स्वरूप तो एक ही होना चाहिए। जैसे कि - आग तो कहीं भी हो, कभी भी हो, वह तो सर्वत्र व सदाकाल गर्म ही होगी; क्योंकि आग का धर्म तो उष्णता (गर्म) ही है न ? धर्म किसी जाति, कुल, सम्प्रदाय या परम्पराओं का मुंहताज नहीं है। धर्म तो इन सबसे ऊपर है, सर्वोपरि है।

धर्म से भय कैसा ? धर्मभीरुता ही तो व्यक्ति को अंधविश्वासी धर्मान्ध बनाती है। अतः कोई कुछ भी क्यों न कहे - एकबार तो शान्ति से तर्क-वितर्क करके धर्म एवं पुण्य-पाप की तह तक पहुँचना ही होगा। अपने आत्मा के समता स्वभाव की ओर निरन्तर हो रहे अपने शुभ-अशुभ या पुण्य-पाप भावों की पहचान तो करना ही होगी, तभी सच्चे सुख की प्राप्ति होगी। धर्म के तलस्पर्शी ज्ञान बिना ऊपर-ऊपर से धर्मात्मा बने रहना अपने को अज्ञान के अन्धकार में रखना है।

संभव है, सच्चाई को पहचानने में अनजाने में कभी हमारी किसी पीढ़ी से भूल-चूक हो गई हो, तो क्या हम उसी भूल को दुहराते रहें ? साँप निकल जाने पर भी उसकी लकीर को ही साँप समझ कर उससे डरते रहें ? वाह ! जितने कुल, जितनी जातियाँ, जितने वर्ग उतने धर्म ? यह सब क्या है ?

देखो ! जो गंगाजल अबतक सबको पवित्र करता था, वही गंगा जल जब अलग-अलग जातियों एवं सम्प्रदायों के द्वारा घड़ों में भर लिया जाता है तो एक दूसरे के घड़े को छूने मात्र से वह अपवित्र होने लगता है। अतः ये जातिवर्ग और सम्प्रदायों के घड़े तोड़े बिना गंगाजल पवित्र नहीं रह सकेगा। इसी भाँति आत्मा का धर्म भी आत्मा-परमात्मा का सही श्रद्धान, ज्ञान और सम्यक आचरण में है। अपने आत्मा और आत्मा की निर्मल परिणति को पहचान कर उसी में जमने-रमने में है। राग-द्वेष-काम-क्रोध-मोह आदि विकृतियों में धर्म कहाँ ?

-- -- --

धनेश के पिता भूपेन्द्र पाश्चात्य वातावरण से पूर्णतः प्रभावित तो थे ही, उसी में रच-पच भी गये थे। धर्म की बातें न उन्होंने पहले कभी सुनी, न सुनने-समझने की कोशिश ही की।

फिल्मों में और लोक-जीवन में भी धर्म के नाम पर धंधा करनेवाले कतिपय ढोंगी धर्मात्माओं के विकृत स्वरूप को देखकर उनकी रही-सही आस्था भी धर्म पर से उठ गई थी। अब उन्हें धर्म एक ढोंग से अधिक कुछ नहीं लगता था। धर्म की बातें कल्पनालोक की कपोल-कल्पित लगने लगी थीं।

वे अपने यौवन में राजनीति में सक्रिय रहे, एक दो बार एम.एल.ए. भी चुने गये; इसकारण वे अपने आपको बहुत बड़ा बुद्धिमान पढ़ा-लिखा इन्सान मानते थे, पर उनकी उस पैनी बुद्धि में यह बात समझ में क्यों नहीं आयी कि फिल्मों में तो हर बात को बढ़ा-चढ़ाकर ही प्रदर्शित किया जाता है और लोकजीवन में भी यदि कोई धर्म के नाम पर धोखा-धड़ी करे तो इससे धर्म कपोल-कल्पित कैसे हो गया ? सभी धर्मात्मा ढोंगी कैसे हो गये ?

11

फिल्मों में तो पुलिस और राजनेताओं को भी अधिकतर भ्रष्ट ही दिखाया जाता है, क्या उस आधार पर सभी पुलिसवालों और सभी राजनेताओं को अपराधी मानकर दण्डित किया जा सकता है ? पर इतना सोचने-समझने की उन्हें फुरसत ही न थी।

तथाकथित नेता भ्रष्ट हो सकते हैं, कुछ पुजारी और पण्डित पाखण्डी हो सकते हैं; कोई साधु ढोंगी हो सकता है; परन्तु राजनीति का नाम भ्रष्टता नहीं है, पूजा और ज्ञान पाखण्ड नहीं है। आत्मसाधना तो ढोंग नहीं है। अतः तथाकथित भ्रष्ट नेता, पाखण्डी पण्डित और ढोंगी साधु को देखकर ईमानदार नेता की, सच्ची साधना की और ज्ञानी साधक की उपेक्षा तथा अनादर नहीं किया जा सकता।

-- -- --

बस, कमाना-खाना और मनोरंजन करना। यही भोगप्रधान भौतिक जीवन था धनेश के माता-पिता का। उनके इस वातावरण के प्रभाव से उनका बेटा धनेश भी नहीं बच पाया। वह भी भोग प्रधान भौतिक वातावरण में रंग गया, खाओ-पिओ और मौज उड़ाओ के कुमार्ग पर चल पड़ा। धनेश के उन्मार्गी होने से न केवल उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा और स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव पड़ा, उसका व्यापार-उद्योग भी प्रभावित हुआ।

वस्तुतः संस्कारों के दो स्रोत (रास्ते) होते हैं। एक पूर्वजन्म से समागत और दूसरे माता-पिता कुटुम्ब-परिवार आदि पूर्व पीढ़ियों से प्राप्त। जिनको जीवन में धार्मिक संस्कारों का सुयोग न पूर्वजन्म में मिला हो और न माता-पिता से ही मिल रहा हो, उनके दुर्भाग्य की तो बात ही क्या करें ? उन्हें तो चारों ओर फैले भौतिकता के जाल में फंसना ही है; पर जिन्हें सौभाग्य से कभी न कभी, कहीं न कहीं से

धार्मिक संस्कारों का सुयोग मिल जाता है, उनका जीवन सफल हो जाता है, धन्य हो जाता है। यही तो अपना-अपना भाग्य है।

कहा भी है - जो जैसी करनी करै सो तैसो फल पाय।

यद्यपि अब ज्ञानेश और धनेश की विचारधारा में जमीन-आसमान का अन्तर आ गया था, तथापि उनकी मित्रता अभी भी उनके वैचारिक मतभेदों से प्रभावित नहीं हुई; क्योंकि दोनों के विचारों में मतभेद तो था, पर मनभेद नहीं था, यह अच्छी बात थी। यही कारण था कि वे एक-दूसरे को सुधारना चाहते थे।

धनेश सोचता - “ज्ञानेश की होनहार ही खोटी है। टेक्नीकल एजुकेशन के सब साधन सुलभ थे; पर उसका मन पढ़ने में लगा ही नहीं। अब दुकान पर दिन-भर गुमसुम-सा बैठा न जाने क्या सोचता रहता है? बस, हंसने के नाम पर मन ही मन मुस्करा लेता है। न गप-शप करना, न नृत्य-गान देखना-सुनना।

ज्ञानेश की दुकान में भी कोई दम नहीं दिखती। कम्पटीशन का जमाना है न! प्रतिस्पर्द्धा के कारण आज ईमानदारी की आजीविका दुर्लभ होती जा रही है। ईमानदारी से धंधा करने पर ग्राहकों के मन में विश्वास जम जाने पर कदाचित् ग्राहकी बढ़ भी जावे तो आस-पास के दुकानदार ईर्ष्या की आग में जलने लगते हैं। सब लोग मिलकर उसे उखाड़ने में लग जाते हैं, हो सकता है वह अस्थिर आजीविका के कारण ही परेशान रहता हो, वह अकेला भी पड़ गया है, उसे तो अब कोई ऐसा काम कर लेना चाहिए, जिसमें ईमानदारी से कुछ निश्चित, सुरक्षित और स्थाई आजीविका की व्यवस्था हो। तभी वह निश्चिन्त होकर धर्मसाधना और लोकोपकार कर सकता है। अन्यथा कैसे कटेगी इसकी इतनी लंबी जिंदगी ?

12

कभी अच्छा-सा मौका देखकर उससे बात करूँगा। देखता हूँ क्या हो सकता है? हमउम्र होकर भी मुझ से दस-पन्द्रह वर्ष बड़ा दीखने लगा है। सच है, अधिक सोच-विचार व्यक्ति को असमय में ही बुजुर्ग बना देता है।

यद्यपि उसकी उम्र अभी कोई अधिक नहीं है; पच्चीस वर्ष की उम्र भी कोई उम्र है? ये तो खेलने-खाने के दिन हैं; पर धर्म के चक्कर में पड़ जाने से उम्र के अनुपात से उसमें प्रौढ़ता कुछ अधिक ही आ गई है। उसके चेहरे पर चिन्तन की झलक भी स्पष्ट दिखाई देने लगी है। माथे पर तीन सल तो पड़े ही रहते हैं। पेन्ट-सूट के स्थान पर कुर्ता-धोती पहनने से भी वह बुजुर्ग-सा दीखने लगा है।”

जो जिस राह पर चल देता है वह उसे ही अच्छा मानता है अतः धनेश अपने मित्र को भी उसी राह पर ले जाना चाहता है; परन्तु धनेश को यह समझ में नहीं आ रहा था कि वह ज्ञानेश को कैसे समझाये? इन्हीं विचारों में डूबे धनेश को नींद आ गई।



तीन

13

सच्ची प्रीति पैसे की मुँहताज नहीं होती

“प्रीति न देखे जात अर पाँत, भूख न देखे रूखो भात ।”

इस उक्ति के अनुसार जब ज्ञानेश और सुनीता का कॉलेज में एक-दूसरे का परिचय प्रीति में परिवर्तित हुआ, तब वे एक-दूसरे की आर्थिक और पारिवारिक परिस्थितियों से परिचित नहीं थे। प्रीति और समर्पण में आर्थिक स्थिति जानने की और परिवार के परिचय प्राप्त करने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। वस्तुतः प्रेम सम्बन्ध सुनियोजित कार्यक्रम के अनुसार नहीं होता। यह तो एक-दूसरे के अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व से प्रभावित होने पर सहजरूप से अनायास ही हो जाता है। इसमें क्यों, कैसे का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

जब ज्ञानेश और सुनीता को एक-दूसरे की आर्थिक स्थिति का पता चला तब भी वे उससे प्रभावित नहीं हुए। ज्ञानेश तो अपनी सीमित आय से ही संतुष्ट था, अतः उसे सुनीता की सम्पन्नता से कोई खास प्रयोजन नहीं था और सुनीता को भी ज्ञानेश की आर्थिक स्थिति की अपेक्षा नहीं थी; क्योंकि वह पितृगृह में श्रीसम्पन्न होकर भी बहुत सादगी पसन्द रही। उसकी आवश्यकतायें भी बहुत सीमित हैं। पिता की धनाढ्यता के अहं का भी उस पर कोई प्रभाव नहीं रहा। वह स्वभाव से ही बहुत ही सादा-वेशभूषा में सादगी से रहना पसन्द करती है।

धर्म के प्रति भी उसका बचपन से ही झुकाव रहा है। धार्मिक व्यक्तियों से मिलकर उसे विशेष हर्ष होता है। बी.ए. करने के बाद उसने अपनी रुचि से ही अनेक धर्मग्रन्थों का अध्ययन भी कर लिया। इसकारण वह जानती थी कि मैं जन्म से पहले भी थी और मरण के बाद भी रहूँगी। मैं मात्र नारी नहीं, मैं इस नारी की देह में अवश्य हूँ; पर नारी से

भिन्न आत्मा हूँ, कारण परमात्मा हूँ। इसतरह वह आत्मा-परमात्मा, पुनर्जन्म एवं पुण्य-पाप का स्वरूप भी भलीभाँति समझने लगी है।

वह यह भी समझने लगी कि - पैसे का आना-जाना तो पुण्य-पाप का खेल है। जो सत्कर्म करेगा, जो दया, दान करेगा, न्याय-नीति से धनार्जन करेगा, उसका वर्तमान जीवन तो श्री सम्पन्न, सुखी और यशस्वी बनेगा ही, अगले जन्म में भी उसे उत्तम गति की प्राप्ति होगी।

पुण्य योग से हुआ भी यही, सुनीता के साथ ज्ञानेश के प्रीति सम्बन्धों में तो अनायास प्रगाढ़ता हुई ही, साथ ही ज्ञानेश को भी एक ऐसा बिजनेस हाथ लग गया, जिससे उसे जल्दी ही अच्छी आर्थिक आय की संभावनाएँ प्रबल हो गईं। परन्तु श्रीदत्त सेठ अपनी लाड़ली बेटी का रिश्ता अपने बराबरी वाले किसी बड़े घर और पढ़े-लिखे वर के साथ करना चाहते थे। धनेश ही उन्हें इन सब दृष्टियों से ठीक लग रहा था।

यद्यपि इसी बीच श्रीदत्त सेठ को अपनी पुत्री का रुख भी ज्ञात हो गया कि वह ज्ञानेश को चाहती है। पहले तो उन्हें बहुत ही अटपटा लगा, अंतरंग में अन्तर्द्वन्द भी हुआ; क्योंकि एक ओर वे अपनी इकलौती बेटी के दिल को भी नहीं तोड़ना चाहते थे और दूसरी ओर सिम्पल ग्रेजुएट तथा छोटे से दुकानदार का बेटा ज्ञानेश उनका जमाई बने ऐसा तो श्रीदत्त सेठ स्वप्न में भी नहीं सोच सकता था। परन्तु किसी के सोचने न सोचने से क्या होता है, होता तो वही है जो मंजूर खुदा होता है। हम कौन होते हैं किसी के शादी-ब्याह के सम्बन्धों को नक्की करनेवाले? ये तो पहले से ही नक्की होते हैं। भाग्य ही इनका विधाता होता है।

सेठ ने भी ज्ञानियों के मुख से ये बातें सुनी तो थीं कि ‘हुइये वही जो रामरचि राखा’ तथा ‘जो-जो देखी वीतराग ने सो-सो होसी वीरा रे!’

उसने 'मैना सुन्दरी और श्रीपाल' नाम का पौराणिक नाटक भी देखा/पढ़ा था, जिसमें होनहार को ही प्रबल बताया गया है; परन्तु सेठ श्रीदत्त को इन बातों में विश्वास नहीं था। वह तो स्वयं ही सबका कर्ता-धर्ता (ईश्वर) बना बैठा था।

धनेश को जमाई बनाने के लिए सेठ श्रीदत्त ने बहुत प्रयास किए; परन्तु धनेश को एक तो पहले से यह पता था कि ज्ञानेश और सुनीता का परस्पर सहज आकर्षण है, वे एक-दूसरे को दिल से चाहते हैं। दूसरे, धनेश का सम्बन्ध धनश्री के साथ लगभग तय-सा था। इस कारण सेठ के लाखों-लाख प्रयत्न करने पर भी जब उनकी एक न चली तो अन्ततोगत्वा श्रीदत्त सेठ ने अपनी इकलौती बेटी की खुशी के लिए ज्ञानेश के साथ सम्बन्ध करना स्वीकृत कर तो लिया; पर इस शर्त के साथ किया कि ज्ञानेश को हमारा घर जमाई बनकर रहना होगा। हमारी बेटी जो अबतक राजशाही ठाट-बाट में पली-पुसी, बड़ी हुई और पढ़ी-लिखी है, वह आधुनिक सुख-सुविधाओं के बिना एक साधारण से घर में कैसे रह सकेगी?

“न भाई ! न, यदि ज्ञानेश को मेरी घर जमाई बनने की शर्त स्वीकृत हो तो ही मैं अपनी बेटी का हाथ ज्ञानेश के हाथ में देने को तैयार हूँ। हाँ, मैं यह आश्वासन देता हूँ कि - शादी होते ही मैं उसे घर-जमाई के बतौर अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति का वारिस बना दूँगा और अच्छे धंधे से भी लगा दूँगा।”

यद्यपि ज्ञानेश एवं सुनीता एक दूसरे को हृदय से चाहते हैं, परन्तु ज्ञानेश ने पूरी दृढ़ता के साथ श्रीदत्त सेठ के सामने दो बातें स्पष्ट कर दीं कि - “एक तो यह कि - मैं ससुराल की सम्पत्ति किसी भी हालत में स्वीकार नहीं करूँगा। मुझे जो न्याय-नीति ईमानदारी से धन मिलेगा उसी में संतुष्ट रहकर जीवन निर्वाह करूँगा - यह मेरा दृढ़ संकल्प है।

14

दूसरी बात यह कि - यदि मेरी मर्जी के मुताबिक सुनीता का सम्बन्ध मुझसे नहीं हो सकेगा तो मैं आजीवन कुँवारा ही रहूँगा। अब मेरे जीवन में अन्य कोई लड़की नहीं आयेगी। यह भी मेरा दृढ़ निश्चय है। आपके लिए यदि कोई योग्य घर-जमाई मिल जाता है और सुनीता उसे अपना लेती है तो ऐसा करने को आप और सुनीता स्वतंत्र हैं - इसका मुझे जरा भी अफसोस नहीं है। सुनीता के सुख के लिए भी मैंने सब विकल्प खुले रखे हैं; अतः आप परेशान न हों।”

श्रीदत्त सेठ ने संतोष प्रगट करते हुए कहा - “अरे भाई ज्ञानेश ! तुम तो बहुत होनहार हो, मुझे तुम्हारे भाग्य तथा परिश्रम और पुरुषार्थ पर पूर्ण विश्वास है।”

सेठ श्री दत्त ने सोचा - “ज्ञानेश धर्मात्मा तो है ही उसका भाग्य भी बलवान है और निर्लोभी भी है।”

यह सोचकर श्रीदत्त सेठ ने तत्काल अपनी बेटी सुनीता का हाथ ज्ञानेश के हाथ में देने का निश्चय कर लिया।

ज्ञानेश ने श्रीदत्त की भावना को जानकर गंभीर होकर उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा कि - सुनीता के माता-पिता होने से अब आप मेरे लिए भी माता-पिता तुल्य हो गये हैं। अतः अब आप बुढ़ापे के सहारे के लिए कोई चिन्ता न करें। हम हैं न आपकी सेवा करने के लिए।

मैं आपका अपना होने के कारण अधिकारपूर्वक आपको बिना माँगें एक सलाह देना चाहता हूँ। यदि आपको मेरी सलाह अच्छी लगे, आपका दिल स्वीकार करे तो आप मानें, अन्यथा कोई बात नहीं। मेरा कहना यह है कि - “आप अपनी सम्पूर्ण चल-अचल सम्पत्ति का अपने नाम से ही जनहित के लिए एक परमार्थ ट्रस्ट बना दें और उसका एक ऐसा ध्रुव फण्ड कायम कर दें कि जिसके ब्याज से प्राप्त धन का आप मुक्त हस्त से दान कर सकें। जरूरत के अनुसार मूलधन को भी दिल खोल कर खर्च करें। आपके बाद आपके द्वारा नियुक्त ट्रस्टी उस

ध्रुव फण्ड का सदुपयोग करते रहेंगे, ट्रस्ट का अच्छा काम देखकर जनसहयोग से ध्रुवफण्ड भी बढ़ता रहेगा। इसतरह आपकी गाढ़ी कमाई का शताब्दियों तक सदुपयोग तो होता ही रहेगा, आपका नाम भी अमर हो जायेगा।”

ज्ञानेश की ट्रस्ट सम्बन्धी सही सलाह सुनकर और निःस्वार्थ सेवा की भावना देखकर श्रीदत्त सेठ गद्-गद् हो गया। उसने महसूस किया— “ज्ञानेश और उसके पिता धर्मेन्द्र का जैसा नाम है, वैसा इनका जीवन है। इन्होंने दहेज में तो कुछ चाहा ही नहीं, इन्हें मेरी सम्पत्ति की भी चाह नहीं, कितनी निर्लोभी प्रवृत्ति है इसकी ?

अरे ! दुनिया में पैसा ही सबकुछ नहीं होता – यह बात ज्ञानेश ने मात्र कहकर नहीं, बल्कि व्यवहार में करके दिखा दिया। सचमुच यह धन-वैभव संयोग तो पुण्य-पापका खेल है। कभी यहाँ तो कभी वहाँ। मैं तो सारी सम्पत्ति ज्ञानेश को ही सौंप दूँगा। वह जो चाहे करे? अब तो मैं सभी चिन्ताओं से मुक्त हो गया हूँ।”

संयोग से ज्ञानेश की पत्नी सुनीता भी ज्ञानेश की भाँति ही सर्वगुण सम्पन्न है। क्यों न होगी ? समान गुण वालों में ही तो सहज-स्वभाविक प्रीति और आकर्षण होता है।

ज्योतिषियों के द्वारा जन्म-पत्री के आधार से मिलाये गुण तो कभी गलत भी हो सकते हैं, पर ज्ञानेश और सुनीता के गुणों का मिलान सही सिद्ध हो रहा है। कॉलेज के जीवन में इन दोनों ने परस्पर मिलकर इन्हीं सदगुणों का मिलान ही तो किया था।

ऐसा कौन नवदम्पति युगल है, जो विवाह उपरान्त साथ-साथ नहीं रहना चाहते; परन्तु जो अपने ऐशो-आराम से अपने कर्तव्य और दायित्व को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं, जो अपनी सम्पूर्ण सुख-सुविधाओं को तिलाञ्जलि देकर भी अपने कर्तव्य का निर्वाह करते हैं, अपनी जिम्मेदारी निभाते हैं, वे ही जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एवं अपने लक्ष्य में सफल होते हैं।

15

सुनीता ऐसी कुलीन, उदार और सास-ससुर एवं परिवार की सेवा में समर्पित गृहणी है, जिसने अपने कर्तव्य और दायित्व को ही सर्वोपरि रखा। वह यह बात अच्छी तरह समझती है कि – प्रत्येक माता-पिता अपनी संतान से बहुत आशायें और अपेक्षायें रखते हैं। उनके अपने सपने होते हैं।

वे ऐसी कल्पनायें करते हैं कि – “बेटा बड़ा होगा, उसका हम टाट-बाट से ब्याह करेंगे। घर में एक प्यारी-सी हँसती-मुस्कराती सेवा भावनाओं से भरी बहू आयेगी। फिर क्या है ? बिना कुछ किए – बैठे-बैठे प्रातः गरम-गरम चाय-नाश्ता और दोपहर में एवं शाम को गरम-गरम फुलके मिलने लगेंगे। फिर हमें क्या चिन्ता ? आनन्द से बुढ़ापा बीत जायेगा.....। थोड़े ही दिनों की ही तो बात है; ये प्रतीक्षा के दिन भी धीरे-धीरे बीत जायेंगे। अभी तो किसी का एक गिलास पानी का सहारा भी नहीं है।

मैंने तो इनसे कहा – “बेटे की शादी कर लो, पर ये सुने तब न ! कहते हैं, बस दो वर्ष की पढ़ाई और है, वह पूरी हुई नहीं कि बस फिर एक दिन की भी देर नहीं होने देंगे। मैं भी क्या करूँ ? ये प्राणलेवा बीमारियाँ न सुख से जीने ही देती और न चैन से मौत आती है। दो वर्ष तो बीस वर्ष से लग रहे हैं।”

ऐसी आशायें लिए बैठी माताओं की यदि आशायें पूरी न हों, उनकी आशाओं के अनुरूप उनके स्वप्न पूरे नहीं हुए तो कैसी मानसिक पीड़ा होती है; यह तो भुक्त-भोगी ही जानता है।

संभवतः यही सब सोचकर सुनीता ने निश्चय किया कि – “मेरा प्रथम कर्तव्य अपने माता-पिता तुल्य सास-ससुर की सेवा में रहना ही है। जबतक इनका जीवन है, मैं अपनी सुख-सुविधा की परवाह न करके इन्हें अपनी आँखों से ओझल नहीं होने दूँगी।”

बस इसी दृढ़ निश्चय का निर्वाह करते हुए सुनीता ने अपने एवं अपने पति के सुख-दुःख की परवाह नहीं की।

ज्ञानेश को भी यही अभीष्ट था। वह भी यही चाहता था, उसका सबसे पहला स्वप्न यही था कि - मुझे ऐसी सहधर्मिणी मिले जो मुझसे अधिक मेरे माता-पिता की सुख-सुविधा का ध्यान रखे। अपनी सेवा से, मधुर वाणी से और सद्व्यवहार से उनके सम्मान को सुरक्षित रखते हुए उनके सुख-दुःख में सहभागी बने।

वह अपनी इस भावना को, अपने इस स्वप्न को साकार होता देखकर इतना अधिक खुश था, जिसे शब्दों में बाँधना संभव नहीं है। इससे उसके दाम्पत्य प्रेम में तो चार चाँद ही लग गये। ज्ञानेश के मन में भी अपने सास-ससुर (सुनीता के माता-पिता) के सुख-दुःख में सहभागी बनने की भावना बलवती हो गई।

ज्ञानेश ने सुनीता से कहा - “क्यों न तुम्हारे मम्मी-पापा को भी यहीं बुला लें। दो की जगह चारों की सेवा साथ-साथ होती रहेगी। वे विचारे वहाँ इस उम्र में अकेले परेशान हो रहे होंगे। सेवा के लिए सर्वेन्ट हैं, यह ठीक है; पर सर्वेन्ट तो आखिर सर्वेन्ट ही होते हैं। उनसे काम कराना भी तो कोई कम सिरदर्द का काम नहीं है। हम लोग स्वयं उनकी सेवा में रहेंगे, उन्हें अपनी देख-रेख में रखेंगे तो हमें तो सन्तोष रहेगा ही; उन्हें भी आराम मिलेगा। उनके लिए अलग से नौकर रख लेंगे। इससे मम्मी-पापा को कोई टेन्शन नहीं रहेगी। यहाँ उन्हें धार्मिक वातावरण भी सहज में ही मिल जायेगा।

मेरी तो यह इच्छा है कि तुम आज ही उन्हें फोन करो, फिर जब वे कहेंगे, मैं जाकर ले आऊँगा। इस माह में अपने तीन बेडरूम वाले नये फ्लैट की चाबी भी मिल जायेगी। उसमें उन्हें अपनी पसंद के अनुकूल सुख-सुविधायें भी जुट ही जायेंगी।”

ज्ञानेश के ऐसे भद्र और उदार विचार सुनकर सुनीता भी गद्गद् हो गई; क्योंकि अपने माता-पिता की सुख-सुविधा का ख्याल तो अच्छे लड़के रखते; के सुख-सुविधा के बारे में ऐसे विचार ज्ञानेश जैसे विरले ही होते हैं।



अच्छे अवसर द्वार खटखटाते आते हैं

अच्छी वस्तु घर आती है और बुरी वस्तु को लेने जाना पड़ता है। दूध घर आता है, शराब को लेने जाना पड़ता है। अच्छे अवसर घर का द्वार खटखटाते आते हैं, “कहते हैं कि जब किसी भी भले काम करने की स्वयं की तैयारी होती है तो साधनों की भी कमी नहीं रहती। जब अपनी भली होनहार होती है तो अच्छे निमित्त कारण तो आसमान से उतर आते हैं।

ज्ञानेश के साथ भी यही हुआ। एक वयोवृद्ध विद्वान् श्री दिनेश शास्त्री कहीं जा रहे थे कि ज्ञानेश के नगर के निकट ही उनकी गाड़ी अचानक खराब हो गई। उन्हें वहाँ रुकना पड़ा। ज्ञानेश एवं नगरवासियों के निवेदन पर दिनेश शास्त्री के प्रवचन का लाभ तो सबको मिला ही, ज्ञानेश ने भी अपने मन में बहुत दिनों से संजोये प्रश्न पूछ लिये।

ज्ञानेश का प्रथम प्रश्न था - बहुत बार ऐसा होता है कि न्यायपूर्वक सही काम करते हुए भी सफलता नहीं मिलती !

शास्त्रीजी ने कहा - “यह सच है कि श्रम करते हुए भी यदि पुण्योदय न हो, भाग्य साथ न दें तो सफलता नहीं मिलती, पर गीता में भी यही कहा है - कर्मण्ये वाधिकारः मा फलेषु कदाचनः। आप काम करते जाओ फल की वांछा मत करो। वह समय पर स्वतः मिलेगा।

किसी भी काम का फल हमें अपने परिणामों (भावों) के अनुसार ही मिलता है न ? अतः हमें अपने परिणामों (भावों) को पहचानना होगा। भाव तीन तरह के होते हैं - शुभ, अशुभ और शुद्ध। हमें देखना यह है कि जब हम कोई भी काम करते हैं; उस समय हमारे परिणाम (भाव) कैसे होते हैं ? वस्तुतः शरीर की क्रिया का तो कुछ फल ही

नहीं है। पुण्य-पाप का बन्ध तो अपनी मान्यता और भावों या परिणामों पर ही निर्भर करता है। यदि हम लौकिक फल की वांछा रखते हैं, निष्काम कर्म नहीं करते तो पुण्य की प्राप्ति कैसे होगी ? फिर भी तुम्हें कुछ लाभ तो हुआ ही है।

अच्छा तुम ही बताओ ? यदि तुम बचपन से स्वाध्यायी नहीं रहे होते तो क्या तुम्हारे मन में ऐसे सद्विचार आते?

यदि परोपकार नहीं करते तो किसी पारिवारिक गोरख धंधे में उलझे होते। निश्चित ही किसी न किसी पापप्रवृत्ति में ही पड़े होते, कोई न कोई राग-द्वेष वर्द्धक विकथा ही करते होते। जितना समय परोपकार में, परहित में गया, उतनी देर विषय-कषाय रूप पापों से तो बचे ही रहे न ? हानि क्या हुई ? पर लौकिक कामनाओं की पूर्ति हेतु अहिंसा एवं सत्य आदि का आचरण तो आवश्यक है ही, धनार्जन भी ऐसे पवित्र भावों से स्वतः ही होता है। पाप कार्यों से समुद्र में फैंके मणि की भाँति ऐसे सु-अवसर दुर्लभ हो जाते हैं; जिसमें सत्य की शोध की जा सकती है।

ज्ञानेश ने हार्दिक प्रसन्नता प्रगट करते हुए शास्त्री जी से कहा - “मेरी समझ में यह तो आ गया कि निःस्वार्थभाव से लौकिक विषयों की कामना किए बिना प्रतिदिन परमात्मा की पूजा और परोपकार करना सर्वथा निरर्थक नहीं है। पापभावों से तो बचे ही रहते हैं; तथा धर्म के बारे में विशेष जानने की जिज्ञासा भी जगती ही है। निःसंदेह इतना लाभ तो मुझे भी हुआ ही है।”

दिनेश शास्त्री ने समझाया - “भाई! सचमुच तो जगत में जो भी सुख-दुःख होता है, वह सब अपने-अपने पुण्य-पाप के फल के अनुसार ही होता है, अपनी-अपनी करनी के अनुसार ही होता है।

हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध महाकवि तुलसीदास ने भी इसी बात का समर्थन करते हुए लिखा है कि -

‘कर्मप्रधान विश्व करि राखा, जो जस करै सो फल चाखा।’

17

इस सन्दर्भ में जैनाचार्य अमितगति के सामायिक पाठ का हिन्दी अनुवाद भी दृष्टव्य है -

‘स्वयं किये जो कर्म शुभाशुभ, फल निश्चय ही वे देते।

करे आप फल देय अन्य तो स्वयं किये निष्फल होते।।’

दौड़े-दौड़े चले आनेवाले देवी-देवता भी पुण्य के प्रताप से ही आते हैं। पापोदय में तो देवी-देवता भी मदद नहीं करते।

वस्तुतः परमात्मा की पूजा-भक्ति भी किसी को प्रसन्न करने और लौकिक कार्यों की सिद्धि के लिए नहीं की जाती। व्यक्ति का जिसके गुणों में अनुराग हो जाता है, उसके प्रति भक्ति की भावना स्वयं उमड़ती है।

आज तो लोगों की यह हालत है कि दिन-रात घोर पाप करते रहते हैं, और प्रतिदिन सुबह-शाम मन्दिर में बेझिझक भगवान के सामने हाथ फैलाकर हाव-भाव के साथ अपने किए पाप को डिक्लेयर करते हुए, क्षमा याचना की प्रार्थना करते हैं और मान लेते हैं कि भगवान ने हमारे सब पाप माफ कर दिए। क्या ऐसा करने से सचमुच पाप कट जाते हैं ? नहीं, कभी नहीं, पापों का फल तो भोगना ही पड़ेगा।

अपनी क्षमायाचना के प्रदर्शन में हम मन्दिर में जाकर भगवान के सामने हल्फिया बयान देते हैं, यदि यही बयान न्यायालय में न्यायाधीश के सामने दिये जायें तो क्या न्याय के सिंहासन पर विराजे न्यायाधीश द्वारा हम तुरंत जेल में अन्दर नहीं कर दिये जायेंगे ?

अन्याय तो प्रकृति में भी नहीं है, तभी तो हम संसार की जैल में जन्म-मरण का दण्ड भुगत रहे हैं। पापों का फल भोगे बिना तथा अपराधवृत्ति छोड़े बिना इस दुःख से छुटकारा पाने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

हमें यह भ्रम निकाल देना चाहिए कि हम पाप करते रहेंगे और प्रायश्चित्त करने से भगवान हमारे अपराधों को माफ करते रहेंगे, हमें क्षमा प्रदान करते रहेंगे।

प्रायश्चित्त व आलोचना तो इसलिए किए जाते हैं कि हम अपने दोषों और अपराधों को स्वीकार कर उनकी पुनरावृत्ति न करें। जब तक पुनरावृत्ति होती रहेगी, इनकी तब तक मात्र अपने दोषों के प्रगट करने से प्रयोजन की पूर्ति होना सम्भव नहीं है।

जो लोग प्रतिदिन प्रायश्चित्त करके अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं और समझ लेते हैं कि हमारे सब पापों का प्रक्षालन हो गया है, वे भ्रम में हैं। उनकी पापमय प्रवृत्ति जहाँ की तहाँ है, बिल्कुल भी नहीं घट रही है। अतः यही मानना न्याय संगत है कि जो भी पाप या अपराध हमने किये हैं या कर रहे हैं, उन्हें कोई भगवान भी माफ नहीं करते, कर भी नहीं सकते। उनका फल तो उन्हें भोगना ही होगा। अन्यथा विश्व की व्यवस्था ही गड़बड़ा जायेगी।

हाँ, जबतक परमात्मा हमारे ध्यान में विचरेंगे; तबतक पाँचों पाप, पाँचों इन्द्रियों के विषय एवं राग-द्वेषादि मनोविकार हमारे ध्यान में आ ही नहीं सकेंगे; क्योंकि ध्यान में परमात्मा और पाप एक साथ नहीं ठहरते। देव मन्दिर की मर्यादित सीमा में भी विषय-विषधर प्रवेश नहीं पाते। क्योंकि मन्दिर में भगवान के दर्शन पूजन करते समय क्रोध-मान-मायाचारी और लोभ तथा हिंसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने, कुशील आदि पाप करने के प्रसंग ही नहीं होते। अन्य स्थानों में किए पापों से मुक्त होने के लिए ही सब व्यक्ति मन्दिर आते हैं। जो व्यक्ति मन्दिर में पाप करता करता करेगा, उसे कर्मों का वज्र लेना होता है। वह कभी भी दुःख से मुक्त नहीं हो सकता। इस कारण भक्त के मन में

18

अन्य अज्ञानी जीवों के भी यदि पूजा करते समय कषाय कम हुई तो उतनी देर पापों से निवृत्ति के कारण उन्हें भी यथायोग्य पुण्य की प्राप्ति हो जाती है। यदि किसी के मन में लौकिक कामना से तीव्र कषाय रही तो पूजा जैसे पवित्र कार्य करते हुए भी पापबंध ही होता है; क्योंकि पुण्य-पाप का बंध भी तो शुभ-अशुभ भावों से ही होता है, शारीरिक क्रियाओं से नहीं। पर ध्यान रहे जो शारीरिक क्रिया का पाप करता है, उसके पहले वह पाप उसके मन में पैदा हो जाता है; अतः शारीरिक पाप और क्रोधादि कषाय करनेवाला दण्डित होता ही है।

जो भक्त समझदार होते हैं, वे भगवान की भक्ति-पूजा के साथ उनके बताये मार्ग पर चलते हैं और एक न एक दिन स्वयं भगवान की बाजू में विराजमान हो जाते हैं। इसके विपरीत जो भगवान के भरोसे ही भवकूप में पड़े-पड़े उन्हें केवल पुकारा ही पुकारा करते हैं, उनके बताये मार्ग को सुनने-समझने की कोशिश ही नहीं करते; वे भवकूप से नहीं निकल पाते, संसार सागर से पार नहीं हो पाते।

भाई ! भगवान की पूजा-भक्ति के माध्यम से अपने को पहचान कर स्वयं भक्त से भगवान की श्रेणी में पहुँच जाना ही पूजा का मूलभूत प्रयोजन है।”

शास्त्रीजी द्वारा ऐसे सरल-सुबोध शैली में किए समाधान से ज्ञानेश तो हर्षित हुआ ही, अन्य लोग भी लाभान्वित हुये।

शास्त्रीजी की विद्वता और प्रवचन से प्रभावित होकर ज्ञानेश ने शास्त्रीजी के सान्निध्य में रहकर उनके द्वारा प्रवाहित ज्ञान-गंगा में आकंठ निमग्न होकर ज्ञानामृत का पान किया। आध्यात्मिक शास्त्रों का गहन अध्ययन, मनन, चिन्तन करके ज्ञानार्जन किया और ज्ञान-गोष्ठी में शंका-समाधान द्वारा अपने ज्ञान का परिमार्जन करके अपनी श्रद्धा एवं

ज्ञान को खूब निर्मल किया। ज्ञान के प्रचार-प्रसार को गति प्रदान करने के लिए पूरे उत्साह के साथ नवीन-नवीन योजनाएँ प्रस्तुत कीं। शास्त्रीजी को ज्ञानेश की योजनाएँ बहुत पसन्द आयीं। सचमुच शास्त्रीजी को ज्ञानेश जैसा सक्रिय, उत्साही और प्रतिभाशाली शिष्य पाकर भारी हर्ष था।

योजनाएँ तो उत्तम थीं हीं, इस काम के लिए शास्त्रीजी अपनी पूरी चल-अचल सम्पत्ति धर्म प्रचार-प्रसार में ही समर्पित कर देना चाहते थे। उनकी भावना के अनुसार धीरे-धीरे उनके साधारण से आवास ने दिनेश विद्या आश्रम नाम से शिक्षण-संस्थान का रूप ले लिया। सर्वप्रथम वहाँ आध्यात्मिक शिक्षण-शिविरों की शृंखला का शुभारम्भ हुआ। लोग दूर-दूर से इन शिक्षण-शिविरों का लाभ लेने हेतु आने लगे। ज्ञानेश द्वारा उन शिविरार्थियों को पढ़ाने के लिए कक्षाओं की सुनियोजित व्यवस्था की गई और शिक्षक भी तैयार किये गये।

वह धर्मरूप वटबीज ज्ञानेश के सद्प्रयासों से धीरे-धीरे विशाल वटवृक्ष के रूप में पल्लवित होता चला गया; जिसकी चतुर्दिक फैली बड़ी-बड़ी शाखाओं की शीतल छाया में सहस्रों श्रोता नियमित धर्मलाभ लेने लगे।

-- -- --

ज्ञानेश को विचारों में डूबा देख धनेश ने कहा “कहो भाई ज्ञानेश! किन विचारों में डूबे हो ? क्या सोच रहे हो ? व्यर्थ के सोच-विचार में अपना माथा खराब क्यों करते रहते हो।

अरे भाई ज्ञानेश ! कहाँ वे बहत्तर वर्षीय बूढ़े-बाबा दिनेशचन्द्र शास्त्री और कहाँ तू पच्चीस वर्ष का हट्टा-कट्टा जवान ? ये दिन तो तेरे मौजमस्ती करने के हैं, सैर-सपाटे करने के हैं, खूब कमाओ और खूब खर्च करो, हँसी-खुशी के साथ सपरिवार सुख से जिओ। क्या ये दिन इसतरह शरीर सुखाने के हैं ? वाह भाई वाह ! यदि यही सब करना था

19

तो गृहस्थी के चक्कर में पड़ा ही क्यों ? उस बेचारी सुनीता को अपने प्यार के चक्कर में क्यों फंसाया ? अब पारिवारिक उत्तरदायित्वों से पलायन करना भी तो पाप ही है न ?”

धनेश ने धर्म की कटु आलोचना करते हुये आगे कहा -

“हालाँकि मेरी पत्नी धनश्री भी मेरे इन विचारों और आदतों से परेशान रहती है, झिंकझिंक भी वह बहुत करती है। धर्म-पत्नी जो ठहरी। ‘धर्म’ का तो चक्कर ही कुछ ऐसा है; जिसके साथ भी यह ‘धर्म’ नाम जुड़ जाता है; उसे तो परेशान होना ही होना है। तुम स्वयं ही देख लो न! ‘धर्म’ के चक्कर में पड़ते ही फँस गये न चिन्ताओं के चक्कर में। धर्म की तो क्या, हम तो धंधे की भी चिन्ता नहीं करते।

अरे! जितने दिन की जिंदगी है, उतने दिन मस्ती में ही क्यों न जियें। अन्त में तो हम सबको यहीं मिट्टी में मिलना ही है।”

ज्ञानेश को धनेश की नास्तिकता पूर्ण बातें सुनकर झुंझलाहट तो बहुत हुई; पर वह मन मारकर रह गया।

वह सोचने लगा - “एक नहीं, अनेक विषयों में निपुण और तकनीकी विद्या में पारंगत व्यक्ति धर्म के संबंध में इतना अनजान कैसे? हाँ, ज्ञानियों ने ठीक ही कहा है - प्रत्येक विषय को जानने की ज्ञान की योग्यता स्वतंत्र होती है। अब तो वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से भी यह बात सिद्ध हो चुकी है कि बुद्धिमान व्यक्ति की बुद्धि भी हर क्षेत्र में एक जैसा कार्य नहीं करती। एक विषय के विशेषज्ञ व्यक्ति दूसरे विषय में सर्वथा अनभिज्ञ भी देखे जाते हैं; क्योंकि प्राप्तज्ञान में जिस विषय को जानने की योग्यता होती है; वही विषय उस ज्ञान के जानने में आ सकता है, अन्य नहीं।

एक बहुत बड़े वैज्ञानिक के बारे में कहा जाता है कि उसे इतनी मोटी बात समझ में नहीं आ रही थी कि - एक ही रास्ते से दो (छोटी-

बड़ी) बिल्लियाँ अन्दर-बाहर कैसे आ-जा सकती हैं? अतः वह दोनों बिल्लियों को अन्दर-बाहर आने-जाने के लिए दो द्वार बनाने का आग्रह तबतक करता रहा, जबतक कि उसे एक ही द्वार से दोनों बिल्लियाँ निकालकर प्रत्यक्ष नहीं दिखा दीं गईं।

यह जरूरी नहीं कि एक बहुत बड़ा इंजीनियर, डॉक्टर, एम.बी.ए. और आई.ए.एस. व्यक्ति चाय भी अच्छी बना सके, शर्ट का बटन भी टांक सके। ऐसी स्थिति में यदि धनेश धरम-करम से अनजान है तो इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं है।”

ज्ञानेश ने धनेश को समझाया - “मित्र ! अपने बारे में, आत्मा-परमात्मा के बारे में, संसार, शरीर व भोगों की क्षणभंगुरता एवं संसार की असारता के बारे में विचार करने से माथा खराब नहीं होता, बल्कि ऐसे विचार से अनादिकाल से खराब हुआ माथा ठीक होता है।”

ज्ञानेश ने आगे कहा - “माथा खराब होता है मोह-राग-द्वेष और कषाय के क्लुषित भावों से, माथा खराब होता है गैरकानूनी व्यापार-धंधों से चिपके रहने में अनुचित लाभ उठाने के लोभ में दिन-रात खोटा ध्यान करने में, जिसका फल नरक है। भाई ! सबसे अधिक माथा खराब होता है दूसरों को नीचे गिरा कर आगे बढ़ने के विचारों में, दूसरों का भला-बुरा करने की चिन्ता में। अतः यदि तुम अपना भला चाहते हो, अपना माथा ठीक रखना चाहते हो तो मैं जो कहता हूँ, उस पर गंभीरता से विचार करो और अपने इस भौतिकवादी भोगप्रधान दृष्टिकोण को बदलो।

धनेश! मैं जानता हूँ कि तुझे मेरी सलाह की गर्ज नहीं है, पर न जाने क्यों मेरा मन मुझे तुझसे कभी-कभी कुछ कहने को मजबूर कर देता है। इसी सिलसिले में एक बात और कहने का मन हो रहा है। वह

यह कि - **ये जो खोटे भाव (पाप) होते हैं, इनका फल क्या होगा?** इस बात पर भी थोड़ा विचार करना।”

20

भाई ! मुझे और कोई चिन्ता नहीं है। आजकल मैं जब कभी थोड़ी-बहुत देर के लिए दुकान पर जाता हूँ तो वहाँ मेरा मन ही नहीं लगता। मैं वहाँ बैठा-बैठा भी इसी संदर्भ में सोचता रहता हूँ। इससे मैं बहुत से अनर्थकारी विचारों से बचा रहता हूँ। यदि तुम भी अपने में होनेवाले भावों के बारे में विचार करोगे और उनसे होने वाले पुण्य-पाप के बारे में चिन्तन करोगे तो तुम्हारे जीवन में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हो सकता है और अनुपम आनन्द की झलक आ सकती है।”

धनेश ने रूखा-सा जवाब दिया - “मित्र! तुम्हारा चिन्तन तुम्हें ही मुबारक हो और तुम्हारे जैसा जीवन भी तुम्हें ही मुबारक हो।”

ज्ञानेश ने कहा - “भाई ! परामर्श मानने के लिये कोई किसी को बाध्य नहीं कर सकता, करना भी नहीं चाहिये। इसके लिये तुम पूर्ण स्वतंत्र हो, पर कभी-कभी तुम मिलने-जुलने तो आते ही रहना। विचारों के आदान-प्रदान से कभी किसी को कुछ न कुछ लाभ तो होगा ही।

आत्मचिन्तन आत्मा-परमात्मा की शोध-खोज का सर्वोत्तम साधन है, आत्मोपलब्धि का और अज्ञानजन्य आकुलता को मेटने का अमोघ उपाय है।”

धनेश ने कहा - “हाँ, हाँ; आऊँगा, अवश्य आऊँगा। आखिर बचपन के मित्र जो हैं और विचारशील व्यक्तियों में मतभेद तो होते ही हैं, पर उनमें मनभेद नहीं होना चाहिये।”



पाँच

21

तथ्य एवं सत्य को समस्या मत बनने दो

लाभानन्द बहुत समय से मानव समाज के इस मनोवैज्ञानिक तथ्य एवं सार्वजनिक सत्य को अनुभव कर रहा था कि - “सभी मानव मानसिक सुख-शान्ति से अपना वर्तमान जीवन-यापन करना चाहते हैं। परलोक में अच्छी गति प्राप्त हो, इसके लिए भी कुछ करना चाहते हैं। पारिवारिक सुख के लिए परस्पर प्रेम से भी रहना चाहते हैं। इसके अलावा आर्थिक अभाव में भी कोई व्यक्ति सुख से जीवन-यापन नहीं कर सकता; क्योंकि भौतिक सुख-सुविधायें भी तो सबको चाहिए ही न ! इसके लिए जो उपाय संभव होते हैं, व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें करने को सदैव तत्पर रहते हैं; परन्तु यह सब कैसे होगा ? इसका सही उपाय क्या है ? इनमें सफलता प्राप्त करने का राज क्या है ? यह अधिकांश व्यक्ति नहीं जानते। इसकारण जो भी आधे/अधूरे उपाय करते हैं, उनसे पूरी तरह सफलता नहीं मिलती। ऐसी स्थिति में व्यक्ति सुख-शान्ति से जीवन-यापन कैसे कर सकते हैं ? अतः इस दिशा में कुछ ऐसा प्रयत्न करना चाहिए ताकि व्यक्ति कोई सही उपाय जान सके।”

यह सोचते-विचारते उसे एक उपाय सूझा कि - क्यों न इस विषय पर एक ऐसा सेमीनार आयोजित किया जाय, जिसमें इस दिशा में सफल व्यक्तियों के विचार सुनने को मिलें ? उन्हीं विचारों में से कोई ऐसा मार्ग मिल जायेगा, जो हमें हमारे लक्ष्य को प्राप्त करने में, हमारे सपने पूरे करने में सहायक हो सकेगा। बस, फिर क्या था लाभानन्द ने एक ऐसे सेमीनार करने की रूपरेखा तैयार की, जिसमें व्यक्ति के

मानसिक, सामाजिक एवं पारिवारिक उत्थान की खुलकर चर्चा हो। सेमीनार का विषय रखा - ‘लोक व्यवहार में कुशलता, व्यापार में सफलता और परलोक में सद्गति प्राप्त करने की कला।’

विषय आकर्षक था और इस सेमीनार के प्रमुख वक्ता लोकप्रिय वक्ता ज्ञानेशजी थे, इस कारण विशाल सेमीनार स्थल समय के पहले ही खचाखच भर गया।

मंगलाचरणोपरान्त सेमीनार के संचालक लाभानन्द ने हजारों हाथों की तालियों की गड़गड़ाहट के साथ प्रमुख वक्ता का माल्यार्पण से स्वागत करते हुए कहा - “आज हम सब ज्ञानेशजी को अपने बीच पाकर गौरवान्वित हैं। आप लोगों को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि धार्मिक क्षेत्र के शिखर पुरुष श्री ज्ञानेशजी का आध्यात्मिक अध्ययन और अहिंसक आचरण तो अनुकरणीय है ही, उनका दुनियादारी को देखने का नजरिया भी आदर्श है, हम सबके लिए सन्मार्ग दर्शक है।”

इसप्रकार विशाल जनसमूह को ज्ञानेशजी का संक्षिप्त परिचय कराते हुए उन्हें भाषण देने के लिए आमंत्रित किया गया।

ज्ञानेशजी ने तालियों की गूंज से किए गये अपने विशेष स्वागत के प्रत्युत्तर में धन्यवाद देते हुए एवं सबके कल्याण की कामना करते हुए अपना भाषण प्रारंभ किया - “मित्रो ! मैं आपको कुछ ऐसे वास्तविक तथ्य और प्रयोग्य सिद्ध सत्य बताना चाहता हूँ, जिन्हें अपना कर मैं अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सतत सफलता की ओर अग्रसर हूँ, सन्तुष्ट हूँ, सुख शान्ति का अनुभव करता हूँ।

मैं अपने इस उपलब्ध सुख और सफलता को आप सब में बाँट देना चाहता हूँ। आप सोचते होंगे कि - ‘ज्ञानेशजी तो कोई अलौकिक, चमत्कारिक या सिद्ध पुरुष हैं, उन्हें तो कोई गॉडगिफ्ट है, जिसके

कारण उन्होंने एक साधारण से परिवार में जन्म लेकर और साधारण स्नातक (सिम्पल ग्रेजुएट) होकर भी अपने जीवन का ऐसा चतुर्मुखी विकास कर लिया है। हम जैसे साधारण व्यक्ति के द्वारा यह सब संभव नहीं है। यह तो ज्ञानेशजी जैसा व्यक्ति ही कर सकता है, हम तो सामान्य जन हैं, साधारण प्राणी हैं, यह सब हमसे नहीं हो सकता। परन्तु आप का यह सोचना सही नहीं है। मुझमें ऐसा कुछ भी नहीं है। मैं भी आप लोगों जैसा ही बहुत ही साधारण व्यक्ति हूँ। यदि मुझे कुछ सुख-शान्ति और संतुष्टि मिली है तो उसके पीछे कुछ सामान्य से सिद्धान्त हैं, साधारण-सी सरल बातें हैं, जिन्हें कोई भी अपना सकता है और अपने जीवन की रिक्तता को सुख-शान्ति से भर सकता है। यदि यही गॉडगिफ्ट है तो यह आप सबको भी उपलब्ध है।

सुख-दुःख दोनों दो तरह के होते हैं - एक मानसिक, दूसरा शारीरिक। समस्या शारीरिक दुःख की नहीं है, यह तो शुद्ध सात्विक खान-पान, थोड़ा-सा श्रम और नियमित दिनचर्या से दूर किया जा सकता है। शारीरिक सुख-दुःख में हमारे पूर्वकृत पुण्य-पाप का भी योगदान होता है। जिसने पूर्व में जो भले-बुरे कर्म किए हैं, उन कर्मों का फल तो भुगतना ही पड़ेगा।

सबसे बड़ी समस्या तो मानसिक सुख-दुःख की है। इसके लिए सर्वप्रथम तो हमें अध्यात्म की शरण में आना आवश्यक है, अतः 'धम्मं शरणं गच्छामि' का संकल्प लेना होगा।

यहाँ 'धर्म' से मेरा तात्पर्य आपको किसी क्रियाकाण्ड में उलझाने से नहीं है। कोरा क्रियाकाण्ड धर्म की परिभाषा में आता भी नहीं है। मैं तो आपको यह बताना चाहता हूँ कि जिसप्रकार आग का धर्म उष्णता है, पानी का धर्म शीतलता है, उसीप्रकार जीव-आत्मा का धर्म क्षमा है, समता, शान्ति, सरलता, सत्य एवं दया आदि है और राग-द्वेष,

22

घृणा, छल-कपट, हिंसा, झूठ-चोरी-कूरता आदि अधर्म हैं, पाप है। धर्म प्राप्त करने एवं अधर्म त्यागने के कुछ सिद्धान्त हैं, कुछ फार्मूला हैं, उन्हें अपनाना होगा। उन्हीं में से आज कुछ चुनिन्दा तथ्यों की चर्चा आपसे हम इस सेमीनार में करना चाहते हैं।

एक संत अपने शिष्यों को समझा रहे थे कि - "दुनिया में कोई भी व्यक्ति पूर्ण नहीं होता; यदि कोई पूर्ण होता तो फिर वह मानव नहीं देवता होता, जीवात्मा नहीं परमात्मा होता। परमात्मा के सिवाय इस जगत में कोई पूर्ण नहीं है, कोई भी निर्दोष नहीं है। यदि हम मानवों की कमियों को या दोषों को ही देखते रहेंगे तो कभी सुखी नहीं हो सकते; क्योंकि परिवार में और कर्मचारियों में कोई न कोई कमी तो होती ही है। अतः हमारे परिजन-पुरजन वर्तमान में जैसे हैं, उनको वैसा न समझें, बारम्बार वैसा ही अनुभव न करें, बल्कि हम दूसरों को जैसा बनाना चाहते हैं, वैसा ही जाने, वैसा ही माने, और वैसा ही कहें।

तात्पर्य यह है कि हम अपने और उनके मस्तिष्क में ऐसा प्रोग्रामिंग करें जैसा हम उसे बनाना चाहते हैं। हमारे पुराण इसके साक्षी हैं। पुराणों में लिखा है - "मानव को प्रतिदिन प्रातः-शाम एकान्त में बैठकर मन में ऐसा चिन्तन करना चाहिए, वाणी से ऐसा ही बोलना चाहिए कि - शुद्धोऽहं, बुद्धोऽहं, निरंजनोऽहं, निर्विकारोऽहं अर्थात् मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, काम-क्रोध एवं राग-द्वेष विकारों से रहित निर्विकार हूँ।"

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि - यद्यपि वर्तमान में हममें राग-द्वेष हैं, कषायों की कलुषता है, हम शुद्ध नहीं हैं, बुद्ध अर्थात् ज्ञानी भी नहीं हैं, निर्विकार भी नहीं हैं, फिर हमें ये मंत्र बोलने को क्यों कहा गया है ?

“हम जैसे हैं, वैसा न सोचें और न वैसा ही बोलें, बल्कि हम जो बनना चाहते हैं, जैसा बनना चाहते हैं वही सोचें, वही बोलें। ऐसा सोचने से एक दिन हम वैसे ही बन जायेंगे। दूसरों को भी वही कहें, जैसा आप उन्हें बनाना चाहते हैं; क्योंकि यही बात दूसरों पर भी लागू होती है। अतः हम अपने पुत्र, पुत्री, पत्नी आदि पूरे परिवार को एवं दुनिया को भी जैसा देखना चाहते हैं, उन्हें जैसा बनाना चाहते हैं, उनके बारे में वही सोचें, वही बोलें। वे भी एक दिन तुम्हारे सोचे और बोले अनुसार बन जायेंगे। अतः उनके विषय में भी निगेटिव कभी न बोले। यही बात उपर्युक्त मंत्रों में प्रोग्रामिंग की गई है।

हमारा यह चिन्तन चिन्तामणि रत्न है, हमारी यह बोली मनोवांछित फल देने वाली कामधेनु है। यह न केवल धार्मिक श्रद्धा का विषय है, बल्कि यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य भी है।

उदाहरणार्थ - मान लो कि - हमारे बेटा, बेटा आदि क्रोधी हैं, जिदी हैं, पढ़ते नहीं हैं, समय पर सोकर नहीं उठते, झूठ बोलते हैं। आप उनकी इन आदतों से परेशान हैं, दुःखी हैं और उन्हें सुधारना चाहते हैं; इसके लिए यदि हम उसे वर्तमान सत्य के आधार पर मूर्ख, जिदी, हठी, नालायक, क्रोधी आदि कहकर डाँटते हैं, पीटते हैं, दूसरों के सामने भी यही सब कहकर उसे अपमानित करते हैं, शिक्षकों से शिकायत करते हैं, नतीजा यह होता है कि बालक-बालिकायें सुधरने के बजाय बिगड़ते जाते हैं, विद्रोही हो जाते हैं, बेशर्म हो जाते हैं - ऐसा हम प्रत्यक्ष देखते हैं और हम इस कारण तनाव में रहने लगते हैं, हमें आकुलता और अशान्ति होती है, हम दुःखी हो जाते हैं।

वस्तुतः हमें वर्तमान तथ्य को न कहना चाहिए और न मन में सोचना ही चाहिए; क्योंकि - हम जो सोचते हैं, जो कहते हैं, वही हमारे अवचेतन मन में अर्द्ध जाग्रत मन में अंकित हो जाता है। जो

23

अवचेतन मन में अंकित होता है, वह वहाँ से चेतन मन में, जाग्रत मन में आ जाता है; जो चेतन मन में आता है, वही वाणी में व्यक्त होता है; पुनः वाणी से अवचेतन मन में, वहाँ चेतन में; चेतन मन से फिर वाणी में। इसप्रकार, इस दुःखद दुष्चक्र का सिलसिला एकबार प्रारंभ हुआ तो लम्बे काल तक चलता ही रहता है। यह मनोविज्ञान का सिद्धान्त है, अतः हम जैसा नहीं चाहते, वैसा कभी न बोलें, कभी न सोचें।

हमारे शरीर में दो मन होते हैं एक चेतन मन, दूसरा अवचेतन मन। सर्वप्रथम हम जो सुनते हैं, बोलते हैं या सोचते हैं, वह पहले हमारे अवचेतन (सबकान्सस माइन्ड) में फीड होता है। फिर वह बात चेतन मन के माध्यम से वाणी में आती है। इसे हम कम्प्यूटर के उदाहरण से समझ सकते हैं।

जवान (जीभ) शरीर रूपी कम्प्यूटर का 'की'-बोर्ड है, जिसतरह 'की'-बोर्ड पर उंगलियाँ चलाने से मेटर रेम में, फिर सेव करने पर हार्डडिस्क में फीड होता है, फिर स्क्रीन पर आता है। इसी प्रकार जो बोलते हैं, वही लघु मस्तिष्क में अंकित होता है, वहाँ से वही बड़े मस्तिष्क में आता है और जो मन में होता है, वही वाणी में आता है।

यदि शराब कारखाने में बन गई तो बाजार में आयेगी ही, बाजार में आई शराब पेट में भी जायेगी ही, पेट में गई तो माथे में भन्नायेगी ही, अतः यदि आप चाहते हैं कि वह माथे में न भन्नाये तो कारखाने के उत्पादन पर ही रोक लगानी होगी।

बस, इसीलिए तो कहते हैं कि हम जैसा दूसरों को देखना पसंद नहीं करते, वैसा उसे कभी न बोलें, आप जैसा जिसे देखना चाहते हैं, वैसा ही बोलें, तभी जीवन में सुख-शान्ति होगी।

दूसरी बात - हमें अपना दृष्टिकोण, अपना सोच सदैव सकारात्मक रखना होगा। एक ही घटना को, एक ही तथ्य को भिन्न-भिन्न व्यक्तियों

द्वारा देखने का दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हो सकता है, यह उन व्यक्तियों के सोच पर निर्भर करता है कि वे उसे किस दृष्टिकोण से देखते हैं।

एक साधु परशुराम और राम नाम के शिष्यों के साथ वन की ओर जा रहा था। रास्ते में आम का पेड़ था। एक पथिक ने पत्थर फेंककर एक ही चोट में आम का फल नीचे गिरा दिया और साधु को आता देख भाग गया।

फल को हाथ में लेकर साधु ने राम से पूछा – इस आम वृक्ष से नीचे गिरे फल से तुमने क्या शिक्षा ग्रहण की ?

राम ने उत्तर दिया – गुरुदेव ! उस पथिक ने वृक्ष पर पत्थर फेंक कर वृक्ष को घायल कर दिया, फिर भी इस वृक्ष ने उसके बदले में यह मीठा फल दिया। कितना परोपकारी और महान है यह वृक्ष ! चोट खाकर भी फल देता है।

यही प्रश्न साधु ने परशुराम से किया।

परशुराम ने कहा – गुरुजी ! ‘लातों के देव बातों से नहीं मानते’ पत्थर से चोट खाये बिना यह आम का वृक्ष भी फल देनेवाला नहीं था। आप इसे कितना भी उपेक्षित देकर देख लो, फिर भी यह पत्थर की चोट खाये बिना फल नहीं देगा।

इसप्रकार एक ही घटना से सज्जन और दुर्जन अपने-अपने सोच के अनुसार अलग-अलग शिक्षा ग्रहण करते हैं।

इस उदाहरण में राम कृतज्ञ है और परशुराम कृतघ्न हैं। परशुराम जैसे सोच वाले व्यक्ति कभी मानसिक सुख-शान्ति नहीं पा सकते; क्योंकि उसका व्यवहार नकारात्मक है, गलत है।

चन्द्रगुप्त और चाणक्य रास्ते में जा रहे थे। ज्यों ही वे तालाब के तट पर पहुँचे कि चाणक्य को घोड़ों की टापों की आवाज सुनाई दी, मुड़कर पीछे देखा तो धूल उड़ती दिखाई दी। चाणक्य को समझने में

24

देर नहीं लगी; उसने चन्द्रगुप्त से कहा – “तुम शीघ्र ही तालाब में डुबकी लगाकर कर छिप जाओ। चन्द्रगुप्त कुछ सोचने लगा, क्या ? क्यों ? करने लगा; पर उसके क्या ? क्यों ? का उत्तर देने का समय नहीं था, अतः चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को धक्का देकर पानी में गिरा दिया। बस, इतनी ही देर में चार घुड़सवार सैनिक सामने आकर रुके और बूढ़े बाबा से पूछा ! क्यों बाबा ! आपको यहाँ चाणक्य और चन्द्रगुप्त जाते दिखे।” बाबा ने कहा – “चाणक्य को तो मैं नहीं जानता, मैंने उसे कभी देखा भी नहीं; पर आपको देखकर राजकुमार के वेश में एक लड़का इस तालाब में अभी-अभी छिप गया है।”

वे चारों सैनिक उतावलेपन में वैसे ही कपड़े पहने हथियारों सहित पानी में जाने लगे तो बाबा ने कहा – “अरे ! भाई, कपड़े तो खोल दो, हथियार भी रख दो और तसल्ली से लड़के को खोज कर पकड़ लाओ, तुम्हारे सामान की रखवाली करने को मैं खड़ा हूँ, चिन्ता क्यों करते हो ?”

सैनिकों ने सोचा – “बाबा ठीक कहता है, कपड़े गीले क्यों करें, हथियार भी खराब हो जायेंगे।”

कपड़े एवं हथियार किनारे पर रख कर ज्यों ही सैनिकों ने पानी में प्रवेश किया, त्यों ही बूढ़े बाबा चाणक्य ने उन्हीं के हथियारों से चारों को मार गिराया और चन्द्रगुप्त को पानी से बाहर निकाल कर पूछा – “जब मैंने धक्का देकर तुम्हें पानी में गिराया तब तुमने मेरे बारे में क्या सोचा ? और जब मैंने सैनिकों को यह बताया कि – एक बालक राजकुमार की पोषाक पहने तुम्हें देखकर पानी में छिप गया है, तब तुम मेरे बारे में क्या सोच रहे थे ?”

चन्द्रगुप्त का एक ही उत्तर था – “मैं सोच रहा था कि गुरुजी जो कुछ/जैसा भी व्यवहार मेरे साथ कर रहे हैं और मेरे बारे में कह रहे हैं,

उसमें कहीं न कहीं मेरा ही हित छिपा होगा। पितृतुल्य मेरे गुरुजी मेरे साथ धोखा-धड़ी कर ही नहीं सकते।”

इस कहानी से हमें दो बातें सीखने को मिलती हैं, एक तो चन्द्रगुप्त की तरह हम भी सकारात्मक सोचें और दूसरे अपने गुरुओं के प्रति ऐसी श्रद्धा हो - तभी हम उनसे सन्मार्ग की शिक्षा ग्रहण कर सुख-शान्ति से रह सकेंगे।

गुलाब के पेड़ में फूल भी होते हैं, काँटें भी होते हैं, सज्जन फूल को ही देखते हैं और दुर्जन काँट को, जिन्हें फूल दिखते हैं उनकी बगिया सुगन्धित वातावरण से महकती है, जिन्हें काँटें दिखते हैं, वे उन्हें उखाड़कर फेंक देते हैं। वे धतूरा बोते हैं, जिसमें फूल ही फूल होते हैं, काँटें नहीं; पर उन फूलों में सुगंध नहीं, बल्कि जहर होता है।

तीसरी बात - कभी किसी काम को सशर्त मत करो, किसी की आलोचना मत करो और किसी से कोई शिकायत मत करो।

किसी से यह मत कहो कि आपने हमारा काम नहीं किया, बुरे दिनों में सहयोग नहीं किया। लौकिक दृष्टि से सुखी रहने के लिए भी इन्हें महामंत्र की तरह याद रखो ! क्योंकि निन्दा, आलोचना और शिकायत करने से अपना मन ही आन्दोलित होता है, उत्तेजित होता, जिससे हमें पाप का बन्ध तो होता ही है, हम जिससे किसी की निन्दा, आलोचना करते हैं, शिकायत करते हैं, सुननेवाला उसके बारे में नहीं; बल्कि हमारे बारे में ही गलत धारणा बनाता है। वह सोचता है कि 'इस व्यक्ति को दूसरों की निन्दा, टीका-टिप्पणी करने के सिवाय और शिकायतें करने के सिवाय अन्य कुछ काम ही नहीं है। कभी किसी की तो कभी किसी की निन्दा एवं आलोचना ही करता रहता है।'

चौथी बात - यदि हम सचमुच सुख-शान्ति से रहना चाहते हैं तो तथ्यों को तथ्य के रूप में ही देखें और उसका समाधान खोजें। तथ्यों

25

को समस्या न बनाये। समस्या बनते ही मूल तथ्य तो गायब ही हो जाता है और हम समस्या के जाल में बुरी तरह उलझ जाते हैं। उदाहरणार्थ - कल्पना करो - दो-ढाई वर्ष का बालक घुटनों के बल चलते-चलते बालकनी (छज्जे) पर आकर नीचे गिर गया।

अब मैं आपसे पूछना चाहता हूँ, जानना चाहता हूँ कि बालक के गिरने की आकस्मिक दुर्घटना एक तथ्य है, आँखों देखा सत्य है या समस्या है ?

आपका उत्तर होगा - निःसन्देह दुर्घटना एक तथ्य है, आँखों देखा सत्य है, यह कोई समस्या नहीं है। जो घट गया वह सत्य है बाकी सब कहानी है। ऐसी स्थिति में अगला कदम होगा - तत्काल हॉस्पिटल ले जाकर इमरजेन्सी में उपचार कराना होगा।

इसके विपरीत इस घटित घटना को तथ्य को यदि किसी के द्वारा उत्पन्न की हुई समस्या समझ लिया गया तो उसके कारणों की खोज में उलझ जायेगा। आधे-अधूरे संभावित कारणों का पता लगते ही आरोप-प्रत्यारोपों द्वारा एक-दूसरे पर दोषारोपण प्रारंभ हो जायेंगे। यह बालक गिरा तो गिरा कैसे ? किसी ने ध्यान क्यों नहीं दिया ? सबके सब क्या कर रहे थे ? इतने लोग एक बच्चे को नहीं संभाल सकते? नतीजा होगा अशान्ति, दुःख और कलह।

बच्चे के प्रति सहानुभूति, उसकी संभाल, उसका समय पर डॉक्टरी सहायता आदि तो एक ओर रह जायेगे; सब मुँह लटका कर बैठ जाँयेंगे, उलझ गया पूरा परिवार उस समस्या में।

अतः यदि सुख-शान्ति से जीवन जीना है तो सत्य तथ्य (True fact) को कभी भी समस्या (Problem) मत बनने दो। अभी इतना ही, शेष फिर कभी।



छह

26

जो जस करे सो तस फल चाखा

ज्ञानेश ने अपनी पत्नी सुनीता को दूसरों के कार्यों के करने की चिन्ता से मुक्त करने के लिए भारतीय धार्मिक मान्यताओं के आधार पर विश्व के कर्तृत्व की वास्तविकता से अवगत कराने के लिए कहा कि - “देखो सुनीता! यदि तुम्हें निम्नांकित तीन विश्व व्यवस्थाओं में से किसी एक को चुनने को कहा जाय तो तुम कौन-सी विश्व-व्यवस्था को पसन्द करोगी? १. ईश्वरकृत, २. मानवकृत या ३. ऑटोमेटिक ?”

सुनीता ने विनम्रता से उत्तर दिया - “मैं ही क्या ? कोई भी समझदार व्यक्ति ऑटोमेटिक व्यवस्था ही पसन्द करेगा; क्योंकि इस व्यवस्था में पराधीनता पक्षपात या अन्याय की गुञ्जाइश नहीं है।

हम आज अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि जब से कम्प्यूटर के द्वारा रेल्वे टिकटों के ऑटोमेटिक सिस्टम से रिजर्वेशन होने लगे, तब से आरक्षण टिकटों के वितरण में होनेवाला भयंकर भ्रष्टाचार समाप्त सा ही हो गया है। सभी यात्री निश्चिन्त हो गये हैं। टिकटों की प्रतीक्षा सूची का क्रमांक ऑटोमेटिकरूप से टिकटों की वापसी के आधार पर क्रमशः घटते-घटते स्वयं अपने क्रम में आता है, कोई बे-इन्साफी नहीं कर सकता।

इसी बात को व्यक्तियों के बजन तोलने की ऑटोमेटिक मशीन के उदाहरण से भी समझ सकते हैं। सार्वजनिक स्थान पर लगी ऑटोमेटिक मशीन पर जितने व्यक्ति तुलेंगे, नियम से उतने सिक्के उसमें पड़े मिलेंगे और दूसरी ओर सादा काँटा भी वहाँ लगा हो, जिसपर तौलने की जिम्मेदारी एक ईमानदार व्यक्ति को सौंपी गई हो और आदेश दिया हो

कि - वह पचास पैसे में प्रत्येक व्यक्ति को तौलकर उसका नाम रजिस्टर में दर्ज करे और शाम तक जितने व्यक्ति उस काँटे पर तुले हों, पचास पैसे के हिसाब से उतनी धनराशि कार्यालय में जमा कराये।

सबसे पहले तो वह ईमानदार व्यक्ति उस काँटे पर स्वयं तुलेगा और रजिस्टर में अपना नाम नहीं लिखेगा। अपने बेटे-बेटी और माता-पिता व पत्नी को तौलेगा और उनके नाम भी उसमें दर्ज नहीं करेगा। यदि दोस्त-मित्र आ गये तो उन्हें भी तौल देगा और उनसे भी पैसे नहीं लेगा। इसतरह जितने व्यक्ति तुलेंगे, गारन्टी से उनके हिसाब से उतने रुपये जमा नहीं होंगे। इसमें उसे बे-ईमानी-सी लगती ही नहीं है। वह तो मात्र उसे बे-ईमानी मानता है कि मैंने सौ व्यक्तियों से पैसे ले लिये हों और पचास के जमा कराऊँ, पचास के खा-पचा जाऊँ। जब मैंने उनसे पैसे लिये ही नहीं तो इसमें बे-ईमानी की बात ही क्या है ?”

पर क्या उसका यह सोच सही है ? नहीं, कदापि नहीं। ऑटोमेटिक मशीन ऐसा नहीं करती, अतः ऑटोमेटिक व्यवस्था ही सही है।

मानवकृत व्यवस्था में और ऑटोमेटिक व्यवस्था में जो अन्तर है, वह तो उक्त दो उदाहरणों से स्पष्ट हो ही गया होगा। अतः मेरा तो दृढमत यही है कि इन दोनों में तो ऑटोमेटिक व्यवस्था ही सर्वश्रेष्ठ है।”

ज्ञानेश ने कहा - “सुनीता ! मानवीय और ऑटोमेटिक में तो ऑटोमेटिक सिस्टम ही ठीक है; क्योंकि उसमें बे-ईमानी की सम्भावना नहीं है। और मानवीय व्यवस्था में बे-ईमानी की सम्भावनाएँ प्रबल हैं; परन्तु ईश्वर तो सर्वशक्ति सम्पन्न और सर्वज्ञ होता है, उसके कर्तृत्व में तो ऐसी कोई कमी नहीं रहना चाहिए ?”

सुनीता बोली - “हाँ, यही तो मैं भी सोच रही थी; आपने तो मानो मेरे मुँह की बात छीन ली; परन्तु मेरी समझ में यह नहीं आता कि

यदि वस्तुतः ईश्वर यह विश्व व्यवस्था अपने हाथ में ले लेता तो व्यवस्था इतनी सुन्दर होती कि किसी को कोई भी शिकायत नहीं रहती, परन्तु अफसोस तो यही है कि ऐसा नहीं हुआ। जिसका सारा विश्व साक्षी है। कहीं अतिवृष्टि, कहीं अनावृष्टि, कहीं भूचाल तो कहीं सुनामी सागर का प्रकोप, चोरी, गुण्डागर्दी, बलात्कार, रिश्वतखोरी, कोढ़, केंसर जैसी भयंकर बीमारियाँ क्या-क्या गिनायें - ये सब ईश्वर की कृतियाँ नहीं हो सकतीं। भला ऐसे भले-बुरे काम ईश्वर कैसे कर सकता है? और तुलसीदास तो यह लिखते हैं कि-

कर्मप्रधान विश्वकरि राखा, जो जस करे सो तस फल चाखा

अर्थात् ईश्वर ने तो विश्व व्यवस्था को कर्म प्रधान कर रखा है, अतः जो व्यक्ति जैसे भले-बुरे कर्म करता है तदनुसार ही उसे फल की प्राप्ति होती है। ईश्वर स्वयं उसमें कुछ हस्तक्षेप नहीं करता। अब आप ही इसका समाधान बतायें।”

ज्ञानेश ने स्पष्ट किया - “सुनीता! मैं इस सम्बन्ध में स्वयं कुछ न कहकर हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध कवि और ईश्वर दर्शन के दार्शनिक विद्वान श्री माखनलाल चतुर्वेदी को प्रस्तुत करना चाहता हूँ। वे अपने आराध्य ईश्वर के सामने अपने पर हो रहे अन्याय से असन्तुष्ट होकर अपने दिल के दर्द को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि -

“तू ही क्या समदर्शी^१ भगवान ?

क्या तू ही है अखिल जगत का न्यायाधीश महान ?

क्या तू ही लिख गया ‘वासना’ दुनिया में है पाप ?

फिसलन^२ पर तेरी आज्ञा से मिलता कुम्भीपाक^३ ?

फिर क्या तेरा धाम स्वर्ग है जो तप बल से व्याप्त,

क्या तू ही देता है जग को सौदे में आनन्द ?

१. निष्पक्ष वीतरागी, २. पाप प्रवृत्ति में पड़ने पर, ३. नरक, ४. समान

27

क्या तुझसे ही पाते हैं मानव संकट दुःख और द्वन्द ?

क्या तू ही है जो कहता है सब सम^४ मेरे पास ?

किन्तु प्रार्थना की रिश्वत पर करता शत्रु विनाश।

मेरा बैरी हो क्या उसका तू न रह गया नाथ ?

मेरा रिपु क्या तेरा भी रिपु रे! समदर्शी नाथ ?

क्या तू ही पतित अभागों पर शासन करता है ?

क्या तू ही है सम्राट, लाज तज न्याय दण्ड धरता है ?

जो तू है तो मेरा माधव तू क्योंकर होवेगा ?

मेरा हरि तो पतितों को उठने को उंगली देगा,

माखन पावे वृन्दावन में बैठा विश्व नचावे

वह मेरा गोपाल पतन से पहले पतित उठावे

कवि कहता है कि मेरा तात्पर्य यह है कि - मैं तुझसे न्याय की क्या आशा करूँ ? तुझसे तो वह पुलिस का सिपाही ही अच्छा है। यद्यपि उसके पास ऐसी कोई कानूनी शक्ति नहीं है, जिससे वह आँखों-देखी हत्या के अपराधी को भी मृत्युदण्ड दे सके या दिला सके; फिर भी दस-बीस हजार की बड़ी रकम रिश्वत में लेकर अपराधी को इतना दण्ड तो अप्रत्यक्षरूप से दे ही देता है। इस दण्ड से भी बहुत लोग अपराध करने से डरने लगते हैं; परन्तु भगवान ! आपका तो हाल ही बे-हाल है। यदि वही हत्यारा आपके पास आकर यह प्रार्थना करता कि - हे प्रभु! मुझसे जो हत्या का अपराध बन गया है, उससे मुझे न्यायालय में निश्चित ही प्राणदण्ड मिलेगा; परन्तु यदि आप चाहेंगे तो कोई मेरा बाल भी बांका नहीं कर सकता। अतः मैं आपकी शरण में आया हूँ और आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे बचा लें, अन्यथा आपकी शरण में कोई क्यों आयेगा ? फिर आपको कोई प्रसाद भी नहीं चढ़ायेगा, पूजा भी नहीं करेगा।”

उसकी गिड़गिड़ाहट और धमकी सुनकर भगवान आपका सिंहासन ही हिल जाता है। असली ईश्वर को तो आज के युग में किसी ने देखा नहीं, पर फिल्मों के पर्दे पर तो तथाकथित भगवान का सिंहासन डोल ही जाता है। क्या यह सही है ?

ऐसे ईश्वर कर्तृत्ववादी दर्शन की बात महाकवि माखनलालजी चतुर्वेदी जैसे बुद्धिजीवियों के गले कुछ कम ही उतरती है।”

सुनीता ने कहा - “इन तीनों व्यवस्थाओं में यदि मुझे चुनाव करने का मौका मिला तो मैं तो ऑटोमेटिक व्यवस्था ही पसन्द करूँगी।”

इस संवाद से इतनी शिक्षा तो मिल ही जाती है कि - विश्व व्यवस्था कर्म प्रधान है, अतः हमें पाप कर्म से तो बचना ही है और पुण्य कर्म या सत्कर्म ही करना है; क्योंकि यही करने योग्य हैं। भले वह पापकर्म का दण्ड ईश्वर दे या कर्म की प्रकृति दे। **बुरे काम का बुरा नतीजा तो भोगना ही पड़ेगा।**

संभवतः इन्हीं उलझनों के न सुलझने से अधिकांश व्यक्ति ऑटोमेटिक (स्व-सञ्चालित) विश्व व्यवस्था में ही अपना विश्वास व्यक्त करने लगे हैं। ज्ञानेश के इन तथ्यों को सुनकर सुनीता विचारों में खो गई। वह सोचने लगी कि - ‘यदि ऐसा है तो फिर हम जो भाग-दौड़ करते हैं, क्या यह सब हमारा मात्र मोह है। यह समझने के लिए एक महत्वपूर्ण एवं रोचक सबजेक्ट तो है ही। कभी समय निकालकर इसे विस्तार से समझना होगा।



खोटे भावों का क्या फल होगा ?

गम्भीर, विचारशील और बड़े व्यक्तित्व की यही पहचान है कि वे नासमझ और छोटे व्यक्तियों की छोटी-छोटी बातों से प्रभावित नहीं होते, किसी भी क्रिया की बिना सोचे-समझे तत्काल प्रतिक्रिया प्रगट नहीं करते। अपराधी पर भी अनावश्यक उफनते नहीं हैं, बड़बड़ाते नहीं हैं; बल्कि उसकी बातों पर, क्रियाओं पर शान्ति से पूरी बात को समझ कर, उसके साइड इफेक्ट्स पर विचार करके उचित निर्णय लेते हैं, तदनुसार कार्यवाही करते हैं, यदि आवश्यक हुआ तो मार्गदर्शन भी देते हैं।

ज्ञानेश ने यही सोचकर धनेश से अधिक कुछ न कह कर बड़ी ही शालीनता से मात्र दो बातों पर विचार करने के लिये कहा। एक तो यह कि - ‘ये जो दूसरों का शोषण करके अपना पोषण करने आदि के खोटे भाव होते हैं, इनका फल क्या होगा ? और दूसरे यह कि जो दुश्चरित्र बन रहा है, वह क्यों बन रहा है ? इस पर गंभीरता से सोचो।

धनेश उस समय तो ज्ञानेश की बातों की उपेक्षा करके चला गया; पर ज्ञानेश की बातों ने उसका पीछा नहीं छोड़ा। वे बातें उसके मन-मस्तिष्क पर छा गईं। अबतक धनेश पर ज्ञानेश के गंभीर व्यक्तित्व की कुछ-कुछ छाप भी पड़ चुकी थी, इस कारण वह रात में बहुत देर तक उन्हीं बातों के बारे में सोचता रहा। ज्ञानेश ने दो बातों पर विचार करने के लिए कहा - एक तो यह कि - यह दुश्चरित्र कैसे बन रहा है और दूसरी यह कि - ये जो खोटे भाव हो रहे हैं, इनका क्या फल भोगना होगा ? धनेश सोचता है - आखिर, ज्ञानेश यह कहकर मुझे समझाना

क्या चाहता है, वह कहना क्या चाहता है ? वैसे बातें तो साधारण-सी लगती हैं, पर ज्ञानेश जैसा व्यक्ति कह रहा है, जिसके सामने श्रोता बने बैठे बड़े-बड़े विद्वान् सिर हिलाते हैं, वाह-वाह करते हैं, गजब...गजब... कहते हैं, गांठ का पैसा खर्च करके दूर-दूर से लोग उसे सुनने आते हैं। अतः उसकी बातों में वजन तो होना ही चाहिए।

दूसरे दिन ही धनेश ने ज्ञानेश से कहा - “मित्र ! तुम तो जानते ही हो कि मैं कितना व्यस्त रहता हूँ। अनेक सामाजिक, धार्मिक संस्थाओं से जुड़ा हूँ, थोड़ा-बहुत राजनीति में भी दखल रखना ही पड़ता है; क्योंकि मेरा धंधा भी कुछ ऐसा ही है - जिसमें राजनैतिक प्रभाव तो चाहिए ही, अन्यथा आये दिन कुछ न कुछ झंझट हुए बिना न रहे। आज इन्कम टैक्स वालों का छापा तो कल पुलिस वालों की तहकीकात। फिर भी मैंने तुम्हारी बात पर विचार करने की पूरी-पूरी कोशिश की।

देखो भाई ! तुमने दो बातों पर विचार करने को कहा था। उनमें पहली जो चरित्र वाली बात है, वह तो साधु-संतों की बातें हैं।

रही बात ‘भावों’ की, सो उसके तो हम कीड़े ही हैं। दिन-रात भावों में ही खेलते हैं। हमारा सारा व्यापार-धंधा ‘भावों’ पर ही आधारित है। बिस्तर छोड़ते ही सबसे पहले हमारे हाथों में शेर के बाजार भावों का अखबारी पत्र ही तो होता है। बाजार-भावों का जैसा अध्ययन हमें है, वैसा शायद ही किसी को होगा। कोई माई का लाल इसमें हमें मात नहीं दे सकता। बाजार-भाव दो तरह के होते हैं, एक”

ज्ञानेश ने धनेश के द्वारा की गई भावों की विचित्र व्याख्या सुनकर पहले तो अपना माथा ठोक लिया। उसे विचार आया कि - “दिन-रात शेर के धंधे में मस्त व व्यस्त धनेश को शेर के भाव नहीं दिखेंगे तो और क्या दिखेगा ? यह क्या पहचाने पुण्य-पाप के परिणामों को ?

अपने में दिन-रात हो रहे शुभ-अशुभ भावों को।”

29

ज्ञानेश ने हँसकर कहा - “वाह ! धनेश भाई, वाह !! तुमसे यही अपेक्षा थी। जिसकी आँख पर जैसा हरा-पीला चश्मा चढ़ा होगा, उसे सब वस्तुएँ वैसी ही तो दृष्टिगत होंगी।”

धनेश ने विनम्र होकर पूछा - “भाई ! इसमें मैंने गलत क्या कहा ?”

ज्ञानेश ने कहा - “भाई ! तुम्हारे शेर के भावों से हमें क्या लेना-देना ? बाजार भाव कितने प्रकार के होते हैं - यह तो अर्थशास्त्र का विषय है। हमने तो तुमसे धर्मशास्त्र के संदर्भ में आत्मा के शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप, राग-द्वेष रूप होनेवाले भावों के बारे में; आर्त-रौद्र रूप पाप भावों के बारे में विचार करने को कहा था और तुम समझे शेर मार्केट के भाव। अस्तु!”

धनेश उद्योगपति है। उसके कई कल-कारखाने हैं, यद्यपि उनसे उसे अच्छी आय है; परन्तु आये दिन मजदूरों की माँगों की समस्या, कच्चा माल मँगाने की चिन्ता, उधारी की वसूली और छोटी-मोटी अनेक समस्याओं से जूझने के कारण जीवन में सुख-शान्ति मिलना तो बहुत दूर, समय पर खाना और सोना भी हराम हो जाता। साथ ही वह स्वयं शेर बाजार में बड़ा ब्रोकर भी है, आमदनी तो इसमें भी खूब है; पर मानसिक शान्ति इसमें भी बिल्कुल नहीं है, हो भी नहीं सकती; क्योंकि शेर बाजार का स्वरूप ही कुछ ऐसा है कि जब भाव चढ़ते हैं तो अनायास ही आसमान छूने लगते हैं और जब उतरते हैं तो अनायास ही पाताल तक पहुँच जाते हैं। कब/क्या होगा, पहले से कुछ ठीक से अनुमान भी नहीं लगता। इस कारण लोगों के परिणामों में बहुत उथल-पुथल होती है, हर्ष-विषाद भी बहुत होता है। दोनों ही स्थितियों में नींद हराम हो जाती है। व्यक्ति सामान्य नहीं रह पाता। ऐसे लोगों को जब अधिक तनाव होता है तो उन्हें सामान्य होने के लिये नशीली वस्तुओं का सहारा लेना ही पड़ता है, जो न सामाजिक दृष्टि से

सम्मानजनक है और न ही सेहत के लिये हितकर। हिंसा जनक और नशाकारक पापमय परिणाम होने से धार्मिक दृष्टि से तो ये त्याज्य हैं ही।

धनेश भी इस दोष से नहीं बच सका। वह भी यदा-कदा मद्यपान कर ही लेता है। जो मद्यपान करता है वह उसके सहभावी दुर्गुणों से भी कैसे बच सकता है? धनेश मद्यपान के सहभावी दोषों से भी नहीं बच सका। शनैः-शनैः वह सभीप्रकार के दुर्व्यसनों की गिरफ्त में आ गया।

ज्ञानेश को बारम्बार विचार आता कि “काश! किसीतरह धनेश को अपनी वर्तमान पाप परिणति की पहचान हो जावे और इसके फल में होनेवाली अपनी दुर्दशा का आभास हो जावे तो निश्चित ही उसके जीवन में परिवर्तन आ जायेगा। अभी उसे इस पाप परिणति के दुष्परिणामों का पता नहीं है, इस कारण बेचारा दिन-रात पापाचरण में रचा-पचा रहता है।

जिस तरह एक अबोध बालक विषधर नाग के बच्चे से निर्भय व निर्द्वन्द्व भाव से खेलता है; क्योंकि उस भोले बालक को पता ही नहीं है कि यह विषधर का बच्चा कितना खतरनाक है, कितना प्राणघातक है? यदि यह क्रुद्ध होकर काट खाये तो मरण निश्चित ही समझो। यदि उस बालक को उस हानि का ज्ञान हो जाये तो क्या वह फिर उससे खेलेगा?

ठीक इसीतरह अपने विचित्र पापमय परिणामों के फल से अनजान व्यक्ति ही उन पाप परिणामों में निरन्तर रमा रहता है और जिसे यह भान हो जाता है कि वे परिणाम काले नाग जैसे जहरीले हैं, तो फिर वह उनसे बचने का उपाय सोचता है।”

यही सब सोचकर ज्ञानेश ने धनेश को दो बातों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने के लिए प्रेरित किया; पर धनेश के पल्ले अभी तक कुछ नहीं पड़ा। पड़ता भी कैसे? वह ज्ञानेश की बात ध्यान से सुनता ही

30

कहाँ है? वह तो अपनी ही धुन में रहता है। उसका ध्यान ही कोई दूसरी दिशा में चल रहा है, इस कारण वह ज्ञानेश के कहे गये अभिप्राय को समझ ही नहीं पाता। समझना कोई बड़ी बात नहीं है; पर समझने की रुचि हो तब न!

धनेश भले ही धनाढ्य है, परन्तु उसकी प्रवृत्तियों से उसकी पत्नी, पुत्र और परिजन - सभी परेशान हैं, दुःखी हैं। संसार का स्वरूप ही कुछ ऐसा है कि यहाँ सबको सभीप्रकार की अनुकूलतायें नहीं मिल पातीं; क्योंकि ऐसा अखण्ड पुण्य किसी के भी पास नहीं होता। ऐसे दुःखी जीवों के दुःख को देखकर धर्मात्माओं के हृदय से ऐसी करुणा की धारा प्रवाहित हुए बिना नहीं रहती, जो उन्हें सत्य एवं सुखद सिद्धान्तों का निरूपण करने को प्रेरित करती है।

धनेश एवं उसके परिवार को मानसिक दुःख से दुःखी देख ज्ञानेश के हृदय में सहज करुणाभाव उमड़ पड़ता और वह उन्हें समझाने लगता। जब धनेश उसकी बातों की उपेक्षा करता तो ज्ञानेश स्वयं दुःखी होने के बजाय अपने मन में यह सोचकर संतोष कर लेता कि “मेरे समझाने से धनेश की समझ सही होने वाली नहीं है, मैं तो निमित्तमात्र हूँ। जबतक उसमें स्वयं समझने की योग्यता नहीं आयेगी, तबतक मैं तो क्या, भगवान भी उसकी समझ को सही नहीं कर सकते।”

ऐसी पक्की श्रद्धा होने पर भी ज्ञानेश को बार-बार समझाने का भाव आये बिना नहीं रहता। अतः वह मित्र के नाते प्रेमवश धनेश को सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करता रहता।



आठ

31

पैसा बहुत कुछ है, पर सब कुछ नहीं

एक दिन धनेश को सुध-बुध खोये बेडरूम के बाहर बरामदे में जमीन पर अर्द्धमूर्च्छित हालत में पड़े-पड़े बड़बड़ाता देख उसकी पत्नी धनश्री ने अपना माथा ठोक लिया और उलाहने के स्वर में भगवान को सम्बोधित करते हुए कहने लगी -

“हे विधाता ! यह क्या हो रहा है ? क्या मेरे भाग्य में भी वही सब है, जो मेरी माँ भोग रही है और अपने दिन रो-रो कर काट रही है। मैंने ऐसे क्या पाप किये, जिनका इतना बड़ा दण्ड मुझे मिल रहा है ? क्या अब ये दिन भी देखने पड़ेंगे ? आज यहाँ पड़े हैं, कल कहीं और पड़े होंगे। क्या अब घर की मान-मर्यादा भी बाहर-बाजार की गली-गली में...? हे भगवान ! पीहर में पिता के इन्हीं दुर्व्यसनों के कारण मेरी माँ और हम सब भाई-बहिन परेशान रहे और यहाँ पतिदेव भी ऐसे ही मिल गये। अब क्या होगा ?”

धनश्री भविष्य की भयंकर कल्पना से सिहर उठी, इस कारण उसे चक्कर-सा आ गया और वह गिरते-गिरते बची।

नारी स्वभाव के अनुसार धनश्री की उर्वरा चित्तभूमि में बचपन से ही अपने सुखमय जीवन जीने की असीम आशा-लताएँ अंकुरित हो रहीं थीं, पर उसके दुर्व्यसनी पिता और शराबी पति के कारण उसकी वे आशालताएँ पल्लवित होने से पहले ही मुरझा गईं।

यद्यपि पिता की दुर्दशा और माँ का दुःख देखकर भी वह कम दुःखी नहीं थी; पर उसने उस समय तो किसी तरह अपने मन को समझा लिया था। वह सोचती -

“बचपन का बहुभाग तो बीत ही गया। थोड़ा समय जो शेष है, वह भी भाई के सहारे बिता लूँगी। सूखे बाँस को सीधा करने के प्रयत्न में उसके टूटने की ही अधिक संभावना रहती है, अतः अब इस ढलती उम्र में पिता से कुछ कहना व्यर्थ ही है। अब यहाँ रहना ही कितना है, वर्ष-दो वर्ष में शादी हो जाएगी, नया घर बसेगा, फिर क्या? खूब आनन्द से रहेंगे।”

उसे क्या पता था कि उसके दुर्भाग्य की यात्रा कितनी लम्बी है? अभी और कबतक ये दुर्दिन देखने पड़ेंगे। पति को इस हालत में देखकर उसकी आँखों के आगे अंधेरा छा गया। मानो उसका सारा भविष्य अंधकारमय हो।

जब उसकी शादी की बात उठी थी, सगाई का प्रस्ताव आया था, उस समय उसका भाई बहुत छोटा था, माँ की घर में कुछ चलती नहीं थी, मद्यपायी पिता मोहन अपनी स्थूल दृष्टि से केवल धनाढ्य घर और लड़के के बाह्य व्यक्तित्व को ही देख-परख पाया। श्रीसम्पन्न होने से ठाठ-बाट तो सेठों जैसे थे ही, देखने में लड़का भी हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर था। लड़की की राय लेना, उसकी पसंदगी पूछना तो उस खानदान की तौहीन समझी जाती थी। समाज और कुटुम्बियों का सोच यह था कि - “माता-पिता जैसा अनुभव अभी बच्चों में थोड़े ही होता है और अपनी संतान को जान-बूझकर कौन गड़ढे में डालना चाहेंगे। फिर कल के छोकरे-छोकरियों को अभी पसंद-नापसंद करने की तमीज ही क्या है? पिता व परिवार को पीढ़ियों का अनुभव होता है। वे जो भी करेंगे, भला ही करेंगे।”

बस इसी मानसिकता के कारण किसी ने भी इस दिशा में स्वयं धनश्री की राय जानने की कुछ भी पहल नहीं की, आवश्यकता ही नहीं

समझी। सब कुछ धनश्री के पिता पर निर्भर रहा और शादी धनाढ्य धनेश के साथ कर दी गई।

-- -- --

धनश्री का बचपन तो जैसा बीतना था, बीत ही गया। अब यौवन की जीवन यात्रा भी उसी तरह के अनिष्ट संयोगों में ही प्रारंभ हुई। बचपन से ही कल्पना लोक में विचरने वाली धनश्री की कल्पनाओं पर, उसकी आशालताओं पर जब तुषारापात हुआ तो वह अर्द्धविक्षिप्त-सी हो गई। उसे अपने चारों ओर अनिष्ट...अनिष्ट...के ही दृश्य दिखाई देने लगे, अनिष्ट...अनिष्ट..अनिष्ट के ही स्वर सुनाई देने लगे।

उसके मुँह से एक ही बात निकलती - “अब मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? कैसे कटेगी मेरी यह पहाड़-सी जिन्दगी इनके साथ ? इन्हें आये दिन पीना है, पीकर पागलों जैसा विवेकहीन होना है, विवेकहीन होकर हिंसक और आक्रामक होना है, कामोत्तेजित होना है और फिर न जाने क्या-क्या अनर्थ करना है ?

इससे इनकी सेहत तो खराब होनी ही है, मानसिक संतुलन भी कितना रख पायेंगे ? कुछ कहा नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में न इनकी बात का विश्वास किया जा सकता है, न व्यवहार का भरोसा। क्या पता कब/क्या कर बैठे ? शराब के नशे में व्यक्ति विवेकशून्य तो हो ही जाते हैं, उनकी वासनायें भी बलवती हो जाती हैं, फिर न स्वस्त्री-परस्त्री का विवेक, न इज्जत-आबरूकी परवाह।.....

हे भगवान ! ऐसी स्थिति में मैं तो एक दिन भी नहीं गुजार सकती इनके साथ। अब करूँ तो करूँ भी क्या ?”

धनश्री के मन के कोने से आवाज आई - “हाँ, एक रास्ता है - तलाक ? मन के दूसरे कोने से प्रश्न उठा - क्या कहा तलाक ? अन्तर

में विवेक ने समाधान किया - तलाक की कभी सोचना भी नहीं, तलाक का जीवन भी कोई जीवन है ? उससे तो मौत ही अच्छी है। तलाकशुदा नारियों को देख कामी कुत्तों की लार जो टपकती है ! वे उसे नोचने-चींथने को फिरते हैं। इसकी भी कल्पना की है कभी ? तलाकशुदा यौवना की मांसल देह को देख जो गुण्डे चारों ओर से गिद्धों की तरह मँडराते हैं, उनकी गिद्ध दृष्टि से बचना कितना कठिन है, यह भी सोचा कभी ? अरे ! नारी दैहिक व मानसिक दोनों दृष्टियों से कितनी कमजोर है, थोड़ी इसकी भी कल्पना कर ! थोड़ा धैर्य और विवेक से काम कर ! आखिर ये अपने पापकर्म के फल ही तो हैं। इस दण्ड से दूर भागूँगी तो अन्य अनेक अनिष्ट संयोगों का सामना करना पड़ सकता है।”

धनश्री आगे सोचती है - “अब तो मरना ही एक रास्ता है, पर बात मुझ तक ही सीमित होती तो और बात थी, पर अब तो धनेश की संतान भी मेरे पेट में पल रही है। ऐसी स्थिति में न मैं मर ही सकती हूँ और न जी ही सकती हूँ।

हे प्रभो ! यदि मरती हूँ तो आत्महत्या के साथ एक और मनुष्यजीव की हत्या का महापाप माथे पर लेकर मरना पड़ेगा, जो साक्षात् नरक गति का हेतु है और यदि जीवित रहती हूँ तो इन परिस्थितियों में जिऊँगी कैसे ?”

लोग कहते हैं - “घबड़ा मत ! ‘आशा पर आसमान टिका है।’ मैं भी इसी आशा पर तो अब तक जीवित हूँ, अन्यथा.....।”

सोचा था - “शादी होगी, ससुराल चली जाऊँगी, वहाँ स्वर्ग जैसा वातावरण मिलेगा तो यह सब भूल जाऊँगी; पर वे सब सपने धूल में मिल गये। एक नया निराशा का पहाड़-सा आगे आ गया, जिससे

जीवन यात्रा का सारा रास्ता रुक गया। अब भविष्य में भी किसकी आशा करूँ? आखिर संतान भी तो इन्हीं की है?

हाय ! मेरे तो तीनों पन ही बिगड़ गये। मैं बर्बाद हो गई। हाय!....प्रभो ! नारी जीवन की यह कैसी विडम्बना है ? पढ़े-लिखे होने पर भी इस तरह दुर्व्यसन में पड़ने का कारण इनका यह खोटा व्यवसाय ही है, न ये रिस्की धंधा करते और न नशे में पड़ते। अब यदि मेरी कूख से पुत्र पैदा हुआ तो मैं ऐसे खोटे-धंधों की तो उस पर परछाई भी नहीं पड़ने दूँगी।.....”

इस तरह सोचते-विचारते वह अचेत-सी हो गई, सो गई। बीच-बीच में कुछ सचेत होती तो उसे फिर वही घबड़ाहट शुरू हो जाती और बड़बड़ाने लगती - “हे भगवान ! ऐसे अनायास होनेवाले उतार-चढ़ाव के धंधों के चक्कर में कोई शत्रु भी न पड़े, जिनमें लाभ होने पर भी चारित्रिक पतन और हानि होने पर भी गम भुलाने के लिए वही नशीली वस्तुओं का सहारा। इतने पढ़े-लिखे हैं; कोई ऐसा धंधा देखना था, जिसमें आकुलता न होती; नींद हराम न होती, नशे का सहारा न लेना पड़ता। अरे ! अच्छे व्यक्तित्व की तो पहचान ही यह है कि वह अपना स्वतंत्र निर्णय ले। लीक पर चलने का तो अर्थ ही यह होता है कि स्वयं निर्णय लेने की क्षमता नहीं है। मैं उन्हें कहूँगी बंद करो यह सब खोटे धंधे और कोई अच्छा व्यापार करो। पैसा बहुत कुछ हो सकता है, पर सब कुछ नहीं। अतः आँख बन्द कर पैसे के पीछे पड़ना बुद्धिमानी नहीं है। पुण्य से प्राप्त पैसे का सदुपयोग करने का विवेक की जरूरत है।”



सही साध्य हेतु सही साधन आवश्यक

ज्ञानेश ने मित्र के नाते धनेश को जब शेयर बाजार के धंधे की उलझनों में न पड़ने की सलाह दी तब तो धनेश ने उसकी सलाह को लापरवाही से सुनी-अनसुनी करके उसकी बातों पर ध्यान ही नहीं दिया; परन्तु जब वह शेयर भावों में अचानक होनेवाले उतार-चढ़ाव के झटकों को नहीं झेल पाया तो करोड़ों की कल्पनाओं में दौड़ लगाने वाला कुछ ही दिनों में रोड़ पर आकर खड़ा हो गया, घाटे में हुए ऋण से उऋण होने के लिए सब फैक्ट्रियाँ और कम्पनियाँ मिट्टी के मोल बेचने को बाध्य हो गया, तब उसे ज्ञानेश द्वारा दी गई सलाह की एक-एक बात याद आने लगी।

ज्ञानेश ने कहा था - “पुण्य-पाप का खेल भी बड़ा विचित्र होता है। पुण्य-पाप के फल के अनुसार जीवन के खेल के पांसे पलटते ही रहते हैं। जहाँ एक ओर पापों के फल में दुर्भाग्य का दैत्य धक्का देकर आँधे मुँह गिरा देता है, वहीं दूसरी ओर पुण्य के फल में सौभाग्य स्वयं साकार रूप धर कर संभाल भी लेता है; परन्तु यह हम पर निर्भर करता है कि हम किसे आमंत्रण दें, पुण्य को या पाप को ? यदि हम पुण्य को आमंत्रण देना चाहते हैं तो हमें सत्कर्म ही करने होंगे। यदि हमारे द्वारा दूसरों को किसी भी कारण कोई भी पीड़ा पहुँचती है तो इससे बड़ा दुनिया में अन्य कोई दुष्कर्म नहीं है और दूसरे जीवों की रक्षा करने से, उनका भला करने से बढ़कर कोई पुण्य का कार्य नहीं है। एतदर्थ महाकवि तुलसीदासजी की इस बात को याद रखना होगा -

‘परहित सरिस धर्म नहिं भाई, पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।’

ज्ञानेश का यह कथन स्मरण आते ही पहले तो उसे इस बात का पश्चाताप हुआ कि “मैंने अपने बिजनेश में दूसरों को नीचा गिरा कर खुश होने में, उन्हें दुःखी करके मजा लेने में कोई कसर नहीं छोड़ी। इन छोटे परिणामों रूप पाप का फल तो मिलना ही था सो मिल गया। अस्तु! अब मैं ऐसी भूल कभी नहीं करूँगा।...”

धनेश ने अपने एक-एक धंधे पर दृष्टि दौड़ाई; परंतु इस दृष्टि से अब प्रायः सभी काम-धंधे उसकी समझ से परे हो गये थे; क्योंकि उसके सभी धंधे ऐसे थे, जिनमें हार्ड काम्पटीशन था। दूसरों को गिराये बिना आगे नहीं बढ़ा जा सकता था। यह भी तो पाप ही है। नम्बर एक और दो का चक्कर भी कम नहीं था।

पुण्ययोग से धनेश को भी ज्ञानेश की भाँति ही घर बैठे एक ऐसा बिजनेस हाथ लग गया; जिसमें न किसी का शोषण था और न जो किसी के मानसिक कष्ट का कारण था तथा न उसमें विशेष पूंजी की जरूरत पड़ी और न मार्केट में दुकान उपलब्ध होने की समस्या से जूझना पड़ा। दुकानदारी या नौकरी की भाँति समय का बंधन भी नहीं था; झूठ, धोखाधड़ी, मायाचारी और कर-चोरी जैसे किसी बड़े पाप प्रवृत्ति में पड़ने की बाध्यता भी नहीं थी। जिसमें लाभ भले प्रारंभ में कभी कम, कभी अधिक हुआ, परन्तु हानि का तो कुछ काम ही नहीं था। इसप्रकार वह बिजनेश तो सब तरह से अच्छा है ही, संगति भी भले लोगों की ही मिलती है; क्योंकि यह बिजनेश ही विश्वास और नैतिकता का है, वैसे भी व्यापार में व्यसनी का कौन विश्वास करे? अतः दुर्व्यसन छोड़ना तो सभीप्रकार के व्यापारों में सफलता पाने के लिए व्यक्ति की बाध्यता है। फिर वर्तमान बिजनेश जो उसे हाथ लगा, उसमें तो दुर्व्यसनी चल ही नहीं सकते थे। अतः धनेश ने प्रतिज्ञापूर्वक दुर्व्यसन त्याग दिए तथा इसमें परस्पर एक-दूसरे की उन्नति चाहना, सहयोग करना स्वयं की सफलता के लिए भी आवश्यक है।

वस्तुतः यह बिजनेश ही ऐसा है, जिसमें दूसरों को आगे बढ़ाने में दूसरों की सफलता और उन्नति में ही अपनी सफलता एवं उन्नति छिपी होती है। इसकारण परस्पर में एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या-द्वेष की तो कोई बात ही नहीं है। इस बिजनेश के उत्पाद भी सर्वश्रेष्ठ हैं।

धनेश को तो यह बिजनेस सर्वोत्तम अच्छा लगा ही, वह चाहता है कि वह यह बिजनेश अपने अन्य साथियों एवं ज्ञानेश को भी बताये। उसे पता नहीं था कि ज्ञानेश भी इसी बिजनेश को कर रहा है।

ज्ञानेश बताना चाहता था, पर धनेश ने अपने अहं में उसकी बात कभी ध्यान से सुनी ही नहीं। धनेश हिम्मत नहीं जुटा पा रहा था कि “मैं ज्ञानेश से कैसे कहूँ? वह तो दुनिया को समझाता है।”

वह सोचता - “जो सदैव संतोष धन की ही महिमा गाता रहता हो, जिसे ‘सन्तोषधन’ की तुलना में ‘भौतिकधन’ सचमुच धूल जैसा तुच्छ लगने लगा होगा। इसकारण सहज-सुलभ और सीमित साधनों में ही सदा सन्तुष्ट रहने की जिसकी आदत सी बन गई है; उसे पुनः लीक से हटकर धनार्जन की उपयोगिता समझाना सरल काम नहीं है; परन्तु दिन-प्रतिदिन अपनी सीमाओं को लांघती हुई बांस की भाँति बढ़ती मंहगाई और दिन-प्रतिदिन बढ़ती आवश्यक आवश्यकताओं के इस युग में कोई कितना भी मितव्ययी क्यों न हो, फिर भी अचानक असीमित अनिवार्य खर्च भी तो आ ही जाते हैं, उनकी आपातकालीन आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु भी तो पर्याप्त धन के बिना काम नहीं चल सकता। पूरे परिवार के जीवन निर्वाह की सम्पूर्ण जिम्मेदारी तो अकेले ज्ञानेश पर है ही, उसके बूढ़े माता-पिता भी हैं, जिन्हें कभी भी कुछ भी आपातकालीन स्थिति आ सकती है।

भले ही हम लाखों लाख शुभ कामनायें करें - कभी किसी को कोई आपत्ति न आये; पर मात्र हमारे चाहने से क्या होता है? असंभव

तो कुछ भी नहीं है। मान लो, किसी को हार्टअटेक ही आ गया और तत्काल ऑपरेशन कराना पड़ा तो तीन-चार लाख से भी पूरा नहीं पड़ता आज के युग में। वह इतना पैसा लायेगा कहाँ से?

आज दैनिक घरेलू खर्च भी कम नहीं होते। मंहगाई आसमान को छू रही है। ऐसी स्थिति में यदि उसके पास पर्याप्त आर्थिक साधन नहीं हुए तो क्या बीतेगी उस बेचारे पर? किसके सामने हाथ फैलायेगा वह? किसी पर भी ऐसा भरोसा नहीं किया जा सकता कि हाथ फैलाने पर भी समय पर सहयोग मिल ही जायेगा। अतः अपनी स्वयं की आजीविका का स्थाई और पर्याप्त साधन तो होना ही चाहिए।

धर्मात्मा होने का अर्थ दरिद्रता तो नहीं है। दरिद्रता तो सद्गृहस्थ के लिए अभिशाप है अभिशाप। एतदर्थ उचित आय के साधनों की जरूरत तो धर्मात्माओं को भी है ही; परन्तु उसके गले यह बात कैसे उतरेगी? यद्यपि कुछ दम नहीं रही। केवल ब्याज के बलबूते पर अकेला दैनिक खर्च चलाना ही कठिन है। हो सकता है अब उसकी समझ में मेरी बात आ जाय?

एक बार कोशिश करने में हर्ज ही क्या है? फिर यह बिजनेस तो उसके लिए वरदान साबित होगा; क्योंकि जो वह चाहता है, वे सब बातें इस बिजनेस में हैं।”

इन विचारों में डूबे धनेश को रात भर नींद नहीं आई। धनेश के ऊपर ज्ञानेश का बहुत बड़ा उपकार भी है। ज्ञानेश के सन्मार्गदर्शन से ही धनेश के जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ था। उसने नैतिक मूल्यों का मार्गदर्शन देते समय ज्ञानेश से यह सूक्ति भी सुनी थी कि **‘नहि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति’**, फिर भला धनेश ज्ञानेश के उपकार को कैसे भुला सकता है?

उसने सोचा - “जिस व्यक्ति ने मुझे ऐसे सन्मार्ग पर लगाया, जिससे मुझे जीवनदान मिला, मेरे पूरे परिवार का उद्धार हुआ, उसके लिए मैं जो भी कर सकूँ, कम ही है।”

35

प्रातः होते ही धनेश नित्यकर्म से निबटकर ज्ञानेश के पास गया और उसने रात भर अपने विचारों के अन्तर्द्वन्द से ज्ञानेश को अवगत कराया। ज्ञानेश ने पहले तो उसके कथन को पूर्ण गंभीरता से सुना और फिर मुस्करा कर कहा - “मैं तुम्हारी नेक सलाह की कद्र करता हूँ; और तुमने जो कदम उठाया है, उसके लिए बधाई देता हूँ।”

जीवन निर्वाह के लिए स्थिर आजीविका तो चाहिए ही। एतदर्थ मैंने भी बहुत सोचा था और इस दिशा में यह निश्चय किया था कि - ‘मैं भी अर्थोपार्जन हेतु काम तो करूँगा; परन्तु ऐसा कोई काम नहीं करूँगा, जिससे गरीबों का शोषण हो, जो शासन की दृष्टि में अपराध हो और अनैतिक हो, आकुलतावाला हो, अधिक रिस्की हो, निन्दनीय हो।”

ज्ञानेश की बातें सुनकर धनेश मन ही मन प्रसन्न हुआ, उसने सोचा - “मेरा काम बन ही गया समझो; क्योंकि मैंने जो बिजनेस शुरू किया है, उसमें तो ये सब विशेषतायें हैं।” धनेश ने ज्ञानेश के विचारों से सहमति जताते हुए कहा - “आपका कहना बिल्कुल सच है - ऐसा ही कोई काम देखेंगे, जो आपके विचारों के अनुकूल होगा।”

ज्ञानेश ने कहा - “यह दुकान भी अब मुझे नहीं पुसाती; क्योंकि दिनभर दुकान पर बैठे ग्राहकों का ही चिन्तन करते रहो; जैसे बगुला पानी पर एक टांग से खड़ा रहकर मछली का चिन्तन करता है, उसीतरह दुकानदार ग्राहक का चिन्तन करता है, उसके लिए एक-एक ग्राहक परमेश्वर जैसा अन्नदाता लगता है। इसकारण भगवान का ध्यान छोड़कर दिनभर ग्राहकों का ही ध्यान चलता है।

ऐसा धंधा भी किस काम का जिसमें निरन्तर पाप का ही परिणाम चलता रहे।”



दस

36

विचित्र संयोग : पुण्य-पाप का

धनश्री की छोटी बहिन रूपश्री रूप लावण्य में अद्वितीय थी। मृगी के नयनों की भाँति बड़े-बड़े काले-कजरारे नेत्र, शुक के समान नुकीली नाक, जवाकुसुम जैसे रक्तवर्ण अधर-ओष्ठ, मोतियों-सी श्वेत दन्तपंक्ति, इकहरी कंचनवर्णी काया, नितम्बों तक लटकती काली-घुंघराली केशराशि, निष्कलंक चमकता-दमकता मुख-मण्डल, जिसे देख शशि भी शरमा जाये।

जहाँ एक ओर रूपश्री का बाह्य व्यक्तित्व इतना मनमोहक था, वहीं दूसरी ओर वह मानसिक दृष्टि से बहुत कमजोर थी। किसी अज्ञात आशंका से वह रो पड़ती थी।

यह कैसा विचित्र संयोग है पुण्य-पाप का ? यह रूप-लावण्य सचमुच कोई गर्व करने जैसी चीज नहीं है। इतना और ऐसा पुण्य तो पशु-पक्षी भी कमा लेते हैं, फुलवारियों के फूल भी कमा लेते हैं, वे भी देखने में बहुत सुन्दर और प्रिय लगते हैं; पर कितने सुखी हैं वे?

बेचारी रूपश्री के बाल्यकाल से ही ऐसे पाप का उदय था कि वह बचपन में न जाने क्यों बात-बात में रो देती थी और घंटों रोया करती। रोने से उसकी आँखें लाल-लाल हो जातीं, गला रूँध जाता, मुख-मण्डल श्रीविहीन हो जाता।

माँ से उसका इस तरह रोना देखा नहीं जाता था। बेटी के दुःख से वह भी भारी दुःखी हो जाती। पिता को पहले तो अपने काम-धंधों से ही फुरसत नहीं, फिर पियकड़ और स्वभाव से ही लापरवाह भी। वह क्या समझें संतान के प्रति अपने उत्तरदायित्व को, कर्तव्य को?

माँ कभी-कभी झुंझलाकर कहती - “शायद इसके भाग्य में तो रोना ही लिखा है। कैसी बड़ी-बड़ी आँखें हैं, परन्तु लगता है रो-रोकर यह अपनी आँखें और सेहत दोनों खराब कर लेगी।”

रूपश्री का पिता अपनी पत्नी को परेशानी में देख कभी-कभार दिलासा देता हुआ कहता - “बच्चे हैं, कभी रोते हैं तो कभी हँसते हैं। बच्चों का तो स्वभाव ही ऐसा होता है। बड़ी होने पर सब ठीक हो जायेगा।”

उस नादान बालिका को यह पता नहीं था कि मेरा यह रोना और दुःखी होना पूर्व पाप का फल तो है ही, नये पाप बंध का कारण भी है, रोने में जो संक्लेश होता है, जो दूसरों पर द्वेष भाव होता है, वह पाप बंध का कारण बनता है। इसप्रकार दुःख का बीज निःसंदेह भविष्य में वट वृक्ष की तरह बड़ा होकर दुःख के फल देता है।

उस नन्हीं-सी बच्ची की क्या बात कहें ? यह तो अपने को समझदार समझनेवाले हमें-तुम्हें भी पता नहीं है कि हम अनजाने में दूसरों के प्रति राग-द्वेष करके कैसे-कैसे पाप भाव करते रहते हैं।

ध्यान रहे, किसी को अपने पाप भावों का पता हो या न हो, दूसरों को भी भले पता चले या न चले; पर कर्मबन्धन से कोई नहीं बच सकता। कर्म का बन्धन तो सबको अपने-अपने मोह-राग-द्वेष भावों के अनुसार होता ही है, कर्मों का और रागादि भावों का परस्पर चुम्बक और लोहे की भाँति ऐसा ही सहज सम्बन्ध है।

चाहे बालक हो या वृद्ध, नर हो या नारी, पुण्य-पापकर्म तो सबको अज्ञान और कषायों के अनुसार एक जैसे ही बंधते हैं। ये किसी की उम्र का कोई लिहाज नहीं करते और न गैरसमझदार पर कृपा ही करते हैं। ये कषायों की हीनाधिकता के अनुसार समय-समय पर सबको अपना

फल भी देते ही हैं। इसीलिए बाल्यकाल से ही यह जानकारी होना जरूरी है कि कैसे-कैसे पुण्य-पाप परिणामों या शुभ-अशुभ भावों से किसप्रकार का कर्मबंध होता है और उनका क्या फल होता है ?

जैसे धनार्जन के काम में घाटे-मुनाफे का पता लगाने के लिए लेन-देन, आवक-जावक, आय-व्यय का लेखा-जोखा जरूरी होता है; उसीप्रकार पुण्य-पाप के परिणामों या भावों का सही लेखा-जोखा भी जरूरी है। अन्यथा जैसे धंधे में लापरवाही से दिवाला निकल जाता है; उसीप्रकार धर्म के क्षेत्र में धर्म-अधर्म या पुण्य-पाप की पहचान न होने से धर्म-अधर्म के न पहचानने के कारण पापाचरण के फलस्वरूप अधोगति में ही जाना पड़ता है।

ज्ञानेश इस बात से भली-भाँति परिचित है। अतः उसका सोच यह है कि - “धनेश की पत्नी धनश्री और उसकी छोटी बहिन रूपश्री, जो दिन-रात दुःखी रहने से दुःख के बीज बोती रहती हैं; उन्हें सत्य का ज्ञान कराना अत्यन्त आवश्यक है। अभी उन्हें क्या पता कि - पहले कभी मोहवश ऐसी ही खोटी परिणति या पाप भाव रहा होगा, जिसका फल वे अभी भोग रहीं हैं और अब यदि इसी स्थिति में यह दुर्लभ मनुष्य भव बीत गया तो अनन्त काल तक इसी भवसागर में गोते खाने पड़ेंगे। अतः उन्हें एकबार तो सन्मार्ग दिखाना ही होगा। मानें या न मानें, मैं अपना काम तो करूँगा ही।” इस संकल्प के साथ ज्ञानेश उन्हें सन्मार्ग-दर्शन कराने की योजना बनाने में जुट गया।

जहाँ एक ओर रूपश्री का सुरांगना के समान प्रकृति प्रदत्त रूप-लावण्य, वहीं दूसरी ओर दयनीय, दुःखद प्रतिकूल पारिवारिक परिस्थितियाँ; जिन्हें देख दानवों के दुष्ट हृदय भी द्रवित हो जायें।

37

कैसा विचित्र खेल है इन पूर्वोपार्जित कर्मों का ? परन्तु यह कोई नई बात नहीं है। पुराणपुरुष कोटिभट राजा श्रीपाल इसके साक्षी हैं। जहाँ एक ओर वे करोड़ योद्धाओं के बराबर बल के धारक; वहीं दूसरी ओर उनका कुष्ठरोग से पीड़ित होना और राज-पाट से निष्काषित होकर निर्जन जंगलों में भटकना और दर-दर की ठोकें खाना। क्या उनके शुभाशुभ कर्मों की विचित्रता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है?

यहाँ सीखने की बात यह है कि ‘यदि हम रूपश्री की भाँति रोते-रोते दुःखद जीवन नहीं जीना चाहते, दुःख नहीं भोगना चाहते हैं तो हम हँसते-हँसते अपने ऐश-आराम के लिए दूसरों के जीवन से खिलवाड़ न करें, हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप कार्य न करें।’

सर्वगुण-सम्पन्न होतेहुए भी रूपश्री का बाल्यकाल तो रोते-रोते बीता ही है, यौवन भी आशा-निराशा के झूले में झूलते रहने से व्याकुलता में ही बीत रहा है। यह भी उसके पाप कर्मों का ही फल है।

पीढ़ियों से धनाढ्य होने पर भी दुर्व्यसनों में लिप्त हो जाने से अभावों के गहरे गर्त में पड़ा पिता; सब ओर से पीड़ादायक अनिष्ट संयोगों से घिरी बड़ी बहिन धनश्री; जिसका कोई भविष्य नहीं - ऐसा नाबालिग छोटा भाई। ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में रूपश्री का न कोई संरक्षक, न कोई सहारा। ध्यान रहे, ऐसे संयोग भी पाप कर्मके फल में ही तो मिलते हैं।

-- -- --

‘अबला जीवन हाथ तुम्हारी यही कहानी’ की उक्ति को याद कर-करके आहें भरती रूपश्री सशंक भयभीत मृगी की भाँति अपना आश्रय खोजती यत्र-तत्र भटकती हुई अपनेदुर्दिन बिता रही थी।

जब पहले किया पाप का फल सामने आता है तब परिस्थिति बदलते देर नहीं लगती। जो अपने गौरव के हेतु होते हैं, सुख के निमित्त होते हैं; वे ही गले के फन्दे बन जाते हैं।

रूपश्री का शारीरिक सौन्दर्य, जिसपर उसके माता-पिता एवं कुटुम्ब-परिवार को गर्व था, आज वही सौन्दर्य उसके लिए धर्मसंकट बन गया है।

दुर्व्यसनों के कारण पिता की सामाजिक प्रतिष्ठा धूलि-धूसरित एवं प्रभाव क्षीण हो जाने से असामाजिक तत्त्वों की पड़ती काली छाया और गिद्धदृष्टि की शिकार हो जाने की आशंका से रूपश्री सशंक और भयातुर भी रहने लगी थी। अपने शील की सुरक्षा में सतत सावधान रूपश्री अपने सौभाग्य की प्रतीक्षा कर रही थी।

वह सोचती - लड़कों ने तो जिस कुल में जन्म ले लिया, उन्हें पूरा जीवन वहीं बिताना पड़ता है; पर लड़कियाँ इस मामले में सौभाग्यशालिनी होती हैं। उन्हें जीवन में दो बार भाग्योदय का अवसर प्राप्त होता है। एक बार तो तब, जब वह किसी बड़े घर में जन्म लेकर बड़े बाप की बेटा बनती है। कदाचित् दुर्भाग्यवश किसी साधारण घर में जन्म लेना पड़ गया तो पुनः दूसरा भाग्योदय का अवसर उसे तब मिलता है, जब उसकी शादी होती है, वह किसी बड़े घर की बहू बनती है।

मेरा पहला अवसर तो यों ही चला गया। बड़े घर में जन्म लेने के बावजूद मुझे उसका लाभ नहीं मिल पाया। मेरे जन्म लेने के साथ ही मेरे पिताश्री कुसंगति में पड़ गये। धीरे-धीरे एक-एक दुर्व्यसन से घिरते चले गये और अपने ही लक्षणों से बीस वर्ष के अन्दर ही स्वर्ग जैसे सदन के निवासी सड़क पर आकर खड़े हो गये।

38

अब दूसरा अवसर शेष है। पर यह आशा भी दुराशा मात्र लगती है। इसमें भी अधिकांश तो निराशा ही हाथ में आनेवाली है; क्योंकि दहेज दानव इस संभावना पर भी संभवतः पानी फेर देगा।

रूपश्री का यह सोचना गलत भी नहीं है; क्योंकि भले ही वह सुन्दर है, पर उसकी सुन्दरता से न तो श्रीमन्तों का पेट भरता है और न पेटी ही। दूसरे, लक्ष्मीवालों की प्रतिष्ठा का प्रश्न भी तो आड़े आ जाता है।

सैंकड़ों रिश्ते आये, पर इन्हीं सब कारणों से अब तक कहीं भी पार नहीं पड़ी, बात नहीं बनी। सभी का यही कहना था - लड़की सुन्दर है, विनयवान भी है, यह बात तो सर्वोत्तम है; परन्तु...।

बार-बार योग्य-अयोग्य सभी तरह के व्यक्तियों के सामने अपना प्रदर्शन करते और बेतुके, बनावटी, ऊँट-पटांग प्रश्नों के उत्तर देते-देते तथा अपमान के घूँट पीते-पीते बेचारी रूपश्री इतनी ऊब गई थी कि उसे अब ऐसे दुःखद जीने से मरना सुखद लगने लगा था। पर पता नहीं, क्या सोच-सोचकर वह अपनी जीवित लाश को ढो रही थी।

उसने एक बार प्रवचन में सुना था कि - “आत्मघाती महापापी - आत्मघात करनेवाला महापापी होता है। आत्मघात करनेवाले की सुगति नहीं होती, कुगति ही होती है; इसीकारण उसने निश्चय कर लिया कि ‘जो पूर्व जन्म में मैंने पाप कर्म किए होंगे, उन्हें भोगना तो पड़ेगा ही; फिर इसी जन्म में ही क्यों न भोग लिये जायें? बे-मौत मरने से ये कर्म मेरा पीछा छोड़ने वाले तो हैं नहीं। अतः भला-बुरा जो भी हो रहा है, उसे मात्र जानते-देखते चलो। उसमें तन्मय मत होओ।’” यही सब तो सुना था उस दिन प्रवचन में।

कहते हैं - ‘घूरे के भी दिन फिरते हैं’ तथा ‘आशा से आसमान

टिका है।' 'खुरपी को भी टेढ़ा बँट तो मिलता ही है।' इसी आशावादी दृष्टिकोण से और आत्महत्या के पाप के भय ने रूपश्री को आत्मघात करने से बचा लिया।

-- -- --

जिसप्रकार पाँचों उंगलियाँ एक जैसी नहीं होतीं; उसीप्रकार सभी व्यक्ति भी एक जैसे नहीं होते। एक युवक ऐसा भी था, जो पढ़ा-लिखा, प्रतिभाशाली, देखने-दिखाने में आकर्षक व्यक्तित्व का धनी और अमानवीय दोषों से कोसों दूर था। धन की चाह और जरूरत किसे नहीं होती? परन्तु किसी की मजबूरी का अनुचित लाभ उठाना उसकी वृत्ति में नहीं था। प्रथम परिचय में ही वह रूपश्री के बाह्य व्यक्तित्व से आकर्षित हो गया। धीरे-धीरे परिचय प्रीति में बदल गया। वह रूपश्री की सरलता, सज्जनता तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में सहनशीलता तथा विनयशीलता जैसे गुणों से अधिक प्रभावित था। इन्हीं सब कारणों से वह उसके मन में बस गई थी।

यदि वह चाहता तो किसी भी बड़े घर से उसे भी दो-चार लाख मिलना कोई बड़ी बात नहीं थी; पर यह उसके खून में ही नहीं था। रूपश्री भी उसे देखते ही, अनजाने में ही उसकी ओर सहज आकर्षित होती चली गयी, मानो उसके साथ उसका जन्म-जन्म का रिश्ता हो।

नवयुवक के पिता ने भी अन्तर्जातीय संबंध होते हुए भी बेटे रूपेश की भावनाओं को पहचान कर कुटुम्ब परिवार की असहमति और अन्तर्जातीय संबंध के विरोध की भी परवाह न करके रूपश्री को अपने घर की बहू बना लिया।

रूपेश का बाह्य व्यक्तित्व तो रूपवान था ही, वह सदाचारी और

39

धन-सम्पन्न भी था। रूपेश जैसे पति को पाकर रूपश्री मन ही मन प्रसन्न हो रही थी; पर अचानक उसके जाग्रत मानस पटल पर बचपन की अर्द्ध जाग्रत मानस पर पड़ी वह स्मृति-रेखा उभर आई, जब खेल-खेल में उसका गुड्डा क्षतिग्रस्त कर दिया गया था। इसकारण उसका मन कुछ-कुछ खिन्न हो गया। तत्काल उसने अपने मन को समझाया "वह तो गुड्डे-गुड्डियों का खेल था, खेलों में तो ऐसा होता ही है, उसमें खिन्न होने की क्या बात है।" यह सोचकर वह संभल गई। यद्यपि उस समय वह खूब रोई थी; क्योंकि तब लड़कपन जो था। उस समय वह खेल को ही सचमुच की शादी समझती थी, इसकारण उस समय उसका रोना स्वाभाविक ही था। दूल्हा दुर्घटनाग्रस्त हो जाये और दुल्हन की आँख में आँसू भी न आयें - ऐसा कैसे हो सकता था?

रूपेश तो स्वभाव से ही धार्मिक प्रवृत्ति का था, रूपश्री भी सरलस्वभावी थी, भारतीय नारी के सभी गुण उसमें थे। पति की परछाँई बनकर रहना ही वह अपना धर्म समझती थी।

रूपेश ने सलाह के रूप में रूपश्री से कहा - "गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने के पूर्व सर्वप्रथम किसी ऐसे तीर्थ की वंदनार्थ जाने का कार्यक्रम क्यों न बनाया जाये, जिसमें 'एक पंथ दो काज' हो जायें? तीर्थवंदना भी हो जाये और साथ में घूमना-फिरना भी जिसे आज की भाषा में लोग हनीमून कहते हैं।"

रूपश्री ने रूपेश की बात का समर्थन करते हुए कहा - "मैं आपकी इस सलाह से पूर्ण सहमत हूँ। आपका विचार उत्तम है। 'हनीमून' के नाम पर कोरे आमोद-प्रमोद और सैर-सपाटे से क्या लाभ? और हनीमून का प्रयोजन और उद्देश्य भी शादी के बाद प्रथम परिचय को

प्रगाढ़ करने और परस्पर के संकोच को, झिझक को मिटाना होता है। तीर्थयात्रा में भी वह सब संभव है।”

रूपेश मुस्कराया और बोला - “लोग क्या कहेंगे ?”

रूपश्री ने रूपेश के संकोच को दूर करते हुए कहा - “अरे ! कहनेवालों का क्या ? जो जिसके मन में आये, कहता रहे। हम किसी के कहने की परवाह क्यों करें ? हम कोई गलत काम करने को तो जा नहीं रहे, जो ऐसा संकोच करें। धर्म साधना करने की कोई निश्चित उम्र नहीं होती। धर्म तो जीवन का अभिन्न अंग होना चाहिए। क्या पता कब/क्या हो जाये ? अंत में धर्म ही तो हमारा सच्चा साथी है।”

रूपश्री की ऐसी समझदारी की बात सुनकर रूपेश मन ही मन बहुत खुश हुआ। उसे लगा कि रूपश्री सच्ची भारतीय धर्मपत्नी है, तभी तो धर्म कार्यों में साथ दे रही है।

इसके लिए उन्होंने दक्षिण भारत की यात्रा पर जाने का निश्चय कर लिया। एक सप्ताह की तीर्थयात्रा सानन्द सम्पन्न हुई। वहाँ से लौटते समय धर्मस्थल से नीची-ऊँची घाटियों का आनन्द लेते हुए चारों ओर हरे-भरे दृश्यों को देखते हुए धार्मिक गीत गुनगुनाते कार में बैठे मस्ती से आ रहे थे कि अचानक कार का ब्रेक फेल हो गया। ड्राइवर ने कार संभालने की काफी कोशिश की, पर कार काबू से बाहर हो गई, आउट ऑफ कन्ट्रोल हो गई। उनकी समझ में आ गया कि अब तो भगवान का नाम लेने के सिवाय दूसरा कोई उपाय ही नहीं है।

रूपेश को अचानक रूपश्री का यह वाक्य स्मरण हो आया कि - धर्म करने की उम्र कोई निश्चित नहीं होती, धर्म तो हमारे जीवन का अभिन्न अंग होना चाहिए। क्या पता कब/क्या हो जाये ? बस तुरन्त सावधान होकर ध्यानमुद्रा में दोनों मन ही मन आत्मा-परमात्मा के स्वरूप का स्मरण करने लगे।

40

देखते ही देखते कार वृक्षों से टकराती बल खाती एक गहरे गर्त में गिरने ही वाली थी कि उसका एक फाटक खुल गया और रूपश्री वृक्ष की डाल में अटक गयी और बाल-बाल बच गई। उधर गाड़ी गर्त में गिरने से रूपेश के उसी समय प्राण-पखेरू उड़ गये।

होनहार की बात है कि एक ही सीट पर एक साथ बैठे युगल दम्पति रूपश्री और रूपेश में रूपश्री साधारण-सी चोट खाकर बच गई और रूपेश का गिरना-मरना एक ही साथ हो गया। यह भी कर्मों की कैसी विचित्रता है ? जिसकी आयु शेष है, उसे कोई मार नहीं सकता तथा जिसकी आयु के क्षण समाप्त हो गये हैं, उसे कोई बचा नहीं सकता।

रूपश्री के दुर्भाग्य का अभी अन्त नहीं आया था। तभी तो इतना सुन्दर संबंध मिलने पर भी उसके भाग्य में पति का सुख नहीं था। शादी हुए चंद दिन ही हुए थे कि उसके प्राणों से प्यारे पति का इस दुःखद दुर्घटना में देहावसान हो गया और रूपश्री जीवन भर के लिए अनाथ हो गई। इसीलिए तो कहा गया है कि **भूल कर भी हम ऐसा आर्तध्यान और पापाचरण न करें, जिसका ऐसा दुःखद नतीजा हो।**



व्याख्यान

41

पति के स्थान की पूर्ति संभव नहीं

नारी के जीवन में सबसे बड़ा दुःख उसके वैधव्य का होता है। इससे अधिक दुःखद स्थिति नारी के जीवन में अन्य कोई नहीं हो सकती। दुर्दैव से यदि यह दुःखद परिस्थिति विवाह के तुरन्त बाद ही बन जाये, तब तो मानो उस पर विपत्तियों के पहाड़ ही टूट पड़ते हैं। पति के अभाव में सारा जीवन अंधकारमय तो बन ही जाता है, साथ ही और भी अनेक विपत्तियों की घनघोर घटायें घेर लेती हैं। पति के परिवार और पड़ोसियों का दुर्व्यवहार तथा पीहर की उपेक्षा उसे जीते जी नरक में धकेल देते हैं, उसका जीना ही दूभर कर देते हैं।

रूपश्री के ससुराल पक्ष से सहानुभूति और सहारा मिलने के बजाय सब ओर से हृदय-विदारक वाक्यावली ही सुनाई देने लगी। तानों के वचन-वाण उसके हृदय को बेधते ही रहते।

सासूजी कहती - “डायन है, डायन ! दुष्टा ने देहरी पर पाँव रखते ही खा लिया मेरे लाल को।”

हाँ में हाँ मिलाते पत्नी-भक्त श्वसुर साहब के मुँह से निकलता - “कुलक्षणी है कुलक्षणी। ज्योतिषीजी ने भी क्या देखकर संजोग बैठा दिया ? देखो न ! घर में पाँव पड़ते ही बेटा तो जीवन से हाथ धो ही बैठा, मार्केट की भी क्या हालत हो गई ? लाखों की चोट लग गई धंधे में।”

पास में खड़ा एक सरल स्वभाव का भोला बालक बोला - अंकल ऐसे धंधे के चक्कर में पड़े ही क्यों हो ? कोई ऐसा धंधा क्यों नहीं कर लेते, जिसमें न कोई जान की जोखम हो और न आकुलता उत्पन्न करनेवाली अधिक हानि हो।

अंधविश्वासी जेठजी उस बालक को डाँटते हुए बोले - “अब ये छोकरा हमें बिजनि स करना सिखायेगा। “अरे ! यह जो भी हुआ सो तो हुआ ही, इस कुलक्षणा के पदार्पण से मेरा तो हाल ही बेहाल हो गया। हत्या के अपराध में चल रहे फौजदारी मुकदमे में मैं सुप्रीम कोर्ट से भी हार गया हूँ। अब आजीवन कारावास तो पक्का ही समझो। फाँसी की सजा भी हो सकती है।”

वह बालक हिम्मत करके पुनः बोला - “नम्बर दो का धंधा किया ही क्यों ? जिससे मैं-मैं, तू-तू के साथ मारपीट की नौबत आ गयी और हथियार हाथ में होने से पार्टनर की हत्या हो गई।”

ननद कहती - “बबुआ ! तू बार-बार बीच में क्यों बोलता है ? क्या तू चुप नहीं रह सकता, अभी जमीन से ऊपर तो उठा नहीं, करने लगा नं. एक और नं. दो बिजनि स की बातें।

अरे ! जब से इस कलमुँही भाभी का मुँह देखा, तभी से मेरा घरवाला तो दिन-दूनी रात-चौगुनी पीने लगा है। पहले मुझसे थोड़ा-बहुत प्रेमालाप कर भी लेता था; पर अब तो मेरी ओर झाँक कर भी नहीं देखता। जब देखो तब इसी के गुण गाया करता है। निकालो डायन को इस घर से। पता नहीं और किस-किस को अपने वश में कर लेगी यह ?

पन्द्रह दिन में ही रूपेश भैया पर तो इसने ऐसा जादू कर दिया था, उनका ऐसा मन मोह लिया था कि कुछ पूछो मत। मुहल्ले वाले भी इसकी तारीफ करते नहीं थकते। अड़ौसी-पड़ौसी रूपेश भैया को याद करने के बजाय, उनके वियोग पर दुःख प्रगट करने के बजाय इसके प्रति ही सहानुभूति दिखा-दिखा कर इसके ही दुःख को रोया करते हैं। ऐसी कौन-सी जादुई विद्या है इसके पास ? कौन-सा मोहिनी मंत्र जानती है यह, जो सभी लोग इसकी बातों और व्यवहार से प्रभावित हो जाते हैं।”

इस तरह ननद ने भी रूपश्री पर अत्याचार और करके दुर्व्यवहार से उसके वैधव्य के गहरे घावों पर नमक छिड़कने का ही काम किया। न केवल सताया ही, अमंगल के भय से घर से भी निकाल दिया। सब तरह से बे-सहारा रूपश्री बे-मौत मरने के बजाय माँ की शरण में चली गई।

‘महिलाओं में इतनी अक्ल ही कहाँ होती है, इतनी दूरदर्शिता भी कहाँ होती है’ – ऐसा कहकर सम्पूर्ण नारी जाति को अपमानित तो नहीं किया जाना चाहिए; पर अधिकांश महिलाओं की ऐसी मनोवैज्ञानिक स्थिति है कि उन्हें दूसरी महिलाओं का दुःख-दुःख-सा ही नहीं लगता। दूसरों पर क्या बीत रही है, इसका अहसास ही नहीं होता। ‘वस्तुतः महिलायें ही महिलाओं की सबसे बड़ी शत्रु होती हैं’ यदि यह कहा जाय तो भी अतिशयोक्ति नहीं होगी; परन्तु इस मनोवृत्ति में आमूलचूल परिवर्तन लाने की महती आवश्यकता है। अन्यथा नारी जाति इसीतरह अपमानित और प्रताड़ित होती रहेगी। जैसी कि दुर्घटना में रूपेश के दिवंगत हो जाने से उसके ससुराल वालों के द्वारा रूपश्री की दुर्दशा हुई।

पुरातन पन्थी नारियाँ अपने अन्धविश्वास के कारण अपनी ही नारी जाति की कितनी/कैसी वैरिन बन जाती हैं – कोई सोच भी नहीं सकता और अदूरदर्शी, अविवेकी पुरुष भी उनकी हाँ में हाँ मिलाकर उनका साथ देने में दो कदम आगे हो जाते हैं।

मांगलिक माने जाने वाले विवाह आदि के नेग-दस्तूरों में महिलायें ही विधवा नारी की परछाईं से परहेज करने लगती हैं। नन्हें-नन्हें बालक-बालिकाओं को भी विधवा के पास नहीं फटकने देतीं।

नारियों की ऐसी दयनीय दुर्दशा देख, कामी पुरुषों की कुदृष्टि उन्हें शान्ति से जीने नहीं देती। दुर्दैव की मारी ऐसी नारियाँ शिकारियों के

42

शिकंजे से छूटीं भयभीत मृगी की भाँति माँ की ममता को याद करके यदि पीहर के शरण में पहुँच जायें तो पीहर के लोग भी उन्हें अपने माथे का बोझ समझकर अपनी बला टालने के लिए उनका पुनर्विवाह करने की सोचने लगते हैं।

माँ में तो बेटियों के प्रति स्वाभाविक रूप से भी ममता होती है, यदि बेटे बाल-विधवा हो जाय तब तो माँ की ममता और उसके दुःख के बारे में कहना ही दुष्कर है; परन्तु वह बेचारी अकेली कर भी क्या सकती है – जब भाई-भाभियाँ और पिता मिलकर एक मत हो जायें। ऐसी स्थिति में माँ को मौन रखने के सिवाय अन्य उपाय ही क्या है? परिस्थितियों से समझौता कर माँ द्वारा कदाचित मजबूरी में पुनर्विवाह को मान्यता दे भी दी जाये तो भी बेचारी विधवा नारी की समस्या समाप्त नहीं होती; क्योंकि विधवा से कौन कुँवारा ब्याह करना चाहेगा। उसे तो कोई विधुर ही अपना सकता है। कम उम्र के विधुर भी विधवा को सहज स्वीकार नहीं करते; क्योंकि जिन्हें एक से बढ़कर एक कुमारियाँ मिल सकती हैं, भला वह विधवा से शादी क्यों करेगा? उसे यह भी आशंका बनी रहती है कि ‘यदि इसके भाग्य में पति होता तो पहला ही क्यों मरता? इस स्थिति में मैं अपनी जान को जोखिम में क्यों डालूँ?’ इस आशंका से भी विधवाओं का योग्य व्यक्ति के साथ पुनर्विवाह होना अत्यन्त कठिन होता है। अतः इस दिशा में सोचना ही व्यर्थ है।

कुछ अदूरदर्शी लोग मिलकर उसे किसी अधेड़ या अधबूड़े विधुर के माथे मढ़कर बिना प्रसव पीड़ा सहे ही छोटी-सी उम्र में ही अनेक बेटे-बेटियों की माँ बना देने पर तुल जाते हैं जो किसी भी अपेक्षा उचित नहीं है।

ऐसा दुर्व्यवहार करते समय ऐसे दुष्ट प्रकृति के नर-नारी यह भूल जाते हैं कि काश! यह दुर्घटना हमारे ऊपर अथवा हमारी प्राण प्यारी

बहिन-बेटियों पर ही घट जाये और हमारे साथ भी दूसरों के द्वारा ऐसा ही व्यवहार किया जाने लगे तब हम पर क्या बीतेगी ? और ऐसा होना कोई असम्भव तो है नहीं। कोई भी व्यक्ति कभी भी दुर्घटना का शिकार हो सकता है। अतः 'आत्मना प्रतिकूलानि परेसां न समाचरेत्' अर्थात् जो दूसरों का व्यवहार हमें स्वयं को अच्छा न लगे, वह व्यवहार हमें दूसरों के साथ नहीं करना चाहिए।'

रूपश्री ने अपने कौमार्य काल में, अपनी बीस बर्षीय छोटी-सी जीवन यात्रा में आस-पास रहने वाली अनेक विधवाओं की दुर्दशा अपनी आँखों से देखी थी। इसकारण उसके हृदय में विधवाओं के प्रति बहुत करुणा एवं सहानुभूति की भावना थी। उसे क्या पता था कि ये दुर्दिन उसके स्वयं के जीवन में आनेवाले हैं।

शादी के बाद पहली मुलाकात में ही प्रथम परिचय के दौरान ही जब रूपेश ने रागवर्द्धक प्रेमालाप करने के बजाय रूपश्री को यह समझाने की कोशिश की कि - "कल्पना करो ! कदाचित् किसी दुर्घटना से हम दोनों सदा-सदा के लिए बिछुड़ जायें, अकेले रह जायें, तो.....?"

रूपश्री रूपेश की इस अप्रिय, कर्णकटु बात पर कुछ सोचे - यह तो संभव ही नहीं था, उस समय तो वह ऐसी बात सुन भी नहीं सकी। अतः वाक्य पूरा कर पाने के पहले ही रूपेश ने रूपश्री के मुँह पर हाथ रख दिया।

रूपश्री की आँखों में आँसू आ गये, वह आँसू पोछते हुए बोली - "अब कहा सो कहा, भविष्य में कभी ऐसा शब्द भी मुँह पर मत लाना। मैं तो ऐसा सुन भी नहीं सकती। ऐसे सुखद प्रसंग में आप ऐसी दुःखद बातें क्यों करते हो ? ऐसी अपशकुन की बात तुम्हारे मन में आई ही कहाँ से और कैसे ?"

उदास भाव से नाराजी प्रगट करते हुए रूपश्री ने पुनः कहा - "आप ऐसी बातें करेंगे तो मैं आपसे बात ही नहीं करूँगी।"

43

रूपेश ने कहा - "मैंने ऐसा क्या कह दिया ? तुम बिना कारण ही रूठ गईं। अरे ! वैसे तो सब अच्छा ही होनेवाला है; परन्तु देखो रूपश्री ! - 'सौभाग्य को दुर्भाग्य में पलटते देर नहीं लगती।' अतः दूरदृष्टि से जीवन के प्रत्येक पहलू पर गंभीरता से विचार कर लेने में हर्ज ही क्या है ? अपने सोचने या कहने से दुर्घटना का क्या संबंध है ? होता तो वही है जो होना होता है। यदि हम हर परिस्थिति का सामना करने के लिए पहले से सजग व सावधान रहें तो ऐसी विषम परिस्थिति में 'किम् कर्तव्य विमूढ' नहीं होते। अतः न सही आज, पर समय रहते सचेत तो हो ही जाना चाहिए। बस इसी विकल्प से मैंने इस चर्चा को महत्त्वपूर्ण व उपयोगी समझकर छोड़ दिया। तुम्हें इतना बुरा लगेगा - ऐसा समझता तो आज न कहकर फिर कभी कह लेता। अस्तु! कोई बात नहीं। तुम इन शकुन-अपशकुन के दकियानूसी विचारों को छोड़ो और जो बातें तुम्हें अभी अच्छी लगें, वही कहो। मैं अपने शब्द वापिस लिए लेता हूँ। पर तुम्हें सदैव हिम्मत से काम लेना सीखना चाहिए और हर परिस्थिति का सामना करने के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए।" भयभीत नहीं होना चाहिए।

कोई कटु सत्य सुन सके या न सुन सके, सह सके या न सह सके, पर जो सुख-दुःख होना होता है, वह तो होकर ही रहता है।

रूपश्री कुछ ही समय में उस दुर्घटना का शिकार हो गई, जिसे वह प्रथम परिचय के दिन सुन भी नहीं सकी थी। अब वे सारे दृश्य जो उन दोनों के बीच बातचीत करते घटे थे, रूपश्री की आँखों में उतर आये।

रूपश्री दुर्घटना में पति को दिवंगत देख मूर्च्छित-सी हो गई, अवाक् रह गई थी। रोना चाहकर भी रो नहीं पा रही थी। उसके आँसू

ढलकने के बजाय अन्दर ही अन्दर सूख गये थे। आँखें फटी की फटी रह गई थीं। जब रोना चालू हुआ तो ऐसी रोई कि उसे रोता देख सारा वातावरण शोक-संतप्त हो गया, सभी उपस्थित प्राणी दुःखी हो गये।

रूपेश के आकस्मिक निधन से रूपश्री का स्वप्निल-संसार उजड़ चुका था। उसके सारे मनोरथ मन के मन में ही रह गये थे। उसकी सारी मनोकल्पनायें सुहागिन बनने के साथ ही बिखर गईं।

नारी का सुहाग सदा के लिए छिन जाना नारी जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है। वह धैर्य धरे भी तो कैसे? आत्मज्ञान का बल, वस्तु के स्वतंत्र परिणामन की श्रद्धा और अपनी होनहार एवं पुण्य-पाप के फल का विचार ही एकमात्र उपाय है, जिसके बल पर बड़ी से बड़ी प्रतिकूलता में भी समतापूर्वक रहा जा सकता है। परन्तु वह अभी उससे अनभिज्ञ थी।

उसकी आँखे झरने बन गईं, जिनसे दिन-रात आँसू झरते ही रहते। गीली आँखें कभी सूखती ही नहीं। यह हालात देख समय-समय पर माँ की ममता उमड़ पड़ती। समझाते-समझाते माँ स्वयं भी फूट-फूट कर रो पड़ती।

रूपश्री का दुःख किसी से देखा नहीं जाता। आस-पड़ौस की, मुहल्ले की महिलायें उसे समझाने, सहानुभूति दिखाने आतीं; पर उसके विलाप को देखकर स्वयं रो पड़तीं, समझाने का असफल प्रयास करतीं; पर स्वयं के आँसू भी नहीं रोक पातीं।

अभी हाथों की मेंहदी रंग भी नहीं ला पायी कि दुर्दैव ने उसके पहले ही उसके हाथों की मेंहदी और माथे का सिन्दूर पोंछ डाला।

माँ के गले से चिपकी रूपश्री रोते-रोते इतनी थक जाती कि उसका अंग-अंग शिथिल हो जाता। सिसकियाँ भरते-भरते वह मूर्च्छित-सी होकर माँ की गोद में ही लुढ़क जाती। यह कोई एक दिन की बात नहीं थी। ऐसे रोते-बिलखते उसे महीनों बीत गये।

44

रूपश्री के सास-श्वसुर ने तो यह कहकर छुट्टी पा ली थी कि - “अभागिन ने नागिन बनकर ब्याह होते ही हमारे लाल को डस लिया। हम तो कलमुँही का मुँह भी नहीं देखना चाहते।”

बस, अब तो रूपश्री को एकमात्र माँ का ही सहारा था। माँ बेचारी पहले से ही विपरीत परिस्थितियों से जूझ रही थी। एक और नया संकट आ पड़ा उसके माथे पर। बड़ी बेटी धनश्री का पति भी प्रारंभ में शराबी निकल गया था, बेटा बचपन से ही अपंग पैदा हुआ, पति मोहन भी साधारण-सी तृतीय श्रेणी का कर्मचारी था; इसकारण ‘नो खाये तेरह की भूख’ बनी ही रहती।

यह तो भगवान ही जानते हैं कि - रूपश्री की माँ ने इस स्वार्थी और वासनामयी दुनियाँ में अपने शील को सुरक्षित रखते हुए अपनी संतान को कैसे पाला-पोसा है। यदि उसमें धैर्य न होता और उसने ज्ञानेश के द्वारा बताये गये धार्मिक सिद्धान्तों और अपने पूर्वकृत पुण्य-पाप के फल के ज्ञान का सहारा नहीं लिया होता तो वह कभी की अपनी संतान सहित या तो अकाल मौत मरकर परलोक सिधार गई होती अथवा पति से तलाक लेकर सम्बन्धविच्छेद कर अपने सुहाग के रहते हुए भी एक असहाय-विधवा जैसा जीवन जी रही होती।

ज्ञानेश ने रूपश्री, धनश्री और उसकी माँ विजया को समझाया - “देखो, संसार में कोई व्यक्ति सम्पूर्ण नहीं होता, चाहे वह पिता हो, चाहे पत्नी हो, पुत्र हो, पुत्रवधू हो, पोता-पोती हो; परिवार का कोई भी व्यक्ति क्यों न हो ? वह सम्पूर्ण नहीं होता।

परिवार के सिवाय बिजनेस पार्टनर, पड़ौसी, नौकर-चाकर आदि जिनसे भी हमारा नित्य-नैमित्तिक व्यावहारिक सम्बन्ध है, सभी व्यक्तियों में कुछ न कुछ कमियाँ तो होंगी हीं।

अतः पति-पत्नी में तलाक होना, संबंध विच्छेद करना, नौकर-चाकरों को बार-बार बदलते रहना, पार्टनर और पड़ोसियों से दूर भागना आदि पारिवारिक समस्याओं के समाधान नहीं हैं। ये सब अन्तिम उपाय के रूप में ही अपनाये जा सकते हैं; क्योंकि बदले में जो भी आयेगा, हो सकता उसमें वह कमी न हो, जिसके कारण आपने उस व्यक्ति को बदला है, परन्तु उसमें भी अन्य अनेक कमियाँ तो होंगी ही; क्योंकि जब संसार में कोई भी व्यक्ति सम्पूर्ण है ही नहीं तो फिर पूर्ण व्यक्ति मिलेगा ही कहाँ से ? पूर्ण तो केवल परमात्मा होता है, जो आपकी सेवा-चाकरी करने या आपके साथ शादी-ब्याह रचाने आयेगा नहीं।

व्यक्तियों के विचार और आचरण में मेल न बैठ पाने के कारण स्पष्ट हैं। प्रथम तो समस्त संसारी प्राणियों में अपनी-अपनी स्वतंत्र चित्र-विचित्र इच्छायें होती हैं, जिन्हें पूरा करना उनका सर्वोच्च लक्ष्य होता है तथा उनके अपने भी कुछ स्वप्न होते हैं, जिन्हें वे साकार करना चाहते हैं।

दूसरे, प्रत्येक संसारी व्यक्ति में क्रोध-मान-माया-लोभ एवं हास्य, रति, अरति आदि कषायों की विभिन्न जातियाँ होती हैं; कब/कौन-सी कषाय किस पर हावी हो जाय - इसका अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता। अतः किसी से भी अपने अनुकूल आचरण की अपेक्षा नहीं की जा सकती। अतः जो भी/जैसा भी अपनी होनहार और पुण्य-पाप के उदयानुसार अपने सम्पर्क में आ गया है, उसे ही स्वीकृत करते हुए यथासंभव उसे ही सन्मार्ग पर लाने का एवं स्वयं में आत्मसंतोष रखने का प्रयत्न रहना चाहिए।”

45

ज्ञानेश का यह सन्देश सुनकर धीरे-धीरे माँ स्वयं तो सहज हुई ही, रूपश्री को भी सहज करने का प्रयत्न किया। ‘काल की गति विचित्र होती है, वह भी धीमे-धीमे मानव को सहजता की ओर ले जाने में सहयोग करती है। अच्छी-बुरी स्मृतियाँ काल के गाल में सहज समाती जाती हैं।’ ऐसा निर्णय कर माँ धैर्य धारण करने की दिशा में प्रयत्नशील हुई।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों माँ की भाँति उसकी छोटी बेटी रूपश्री भी दुर्भाग्य के झटके झेलते हुए तत्त्वज्ञान के सहारे सहज होती चली गयी।

कृष्णपक्ष एवं शुक्लपक्ष के चन्द्र की भाँति अपने भावों के अनुसार पाप-पुण्यकर्म भी घटते-बढ़ते और बदलते रहते हैं। एक दिन अचानक रूपश्री के नाम एक बड़ा सा ड्राफ्ट आया; जिसे देख पहले तो रूपश्री को आश्चर्य हुआ; बाद में स्मरण आया कि - ओह ! पता नहीं उन्हें क्या आभास हो गया था कि एक दिन उन्होंने और सारी बातें कहते-कहते यह भी कहा था कि “कदाचित् हम बिछुड़ गये। तुम रह गई और मैं चला गया तो तुम पैसे के लिए परेशान नहीं होगी, तुम्हें आजीविका के लिए किसी के सामने हाथ पसारने की जरूरत नहीं पड़ेगी।

दूरदर्शिता की दृष्टि से ऐसी आर्थिक व्यवस्था जरूरी है जिससे संकटकाल में परिवार दूसरों का मोहताज न हो जाये, ऐसी व्यवस्था मैंने कर रखी है।

यद्यपि पैसा पति के स्थान की पूर्ति तो नहीं कर सका; परन्तु पुण्ययोग से रूपश्री दीन-हीन और पराधीन होने से बच गई।

अब उसने ज्ञानेश के सान्निध्य में रहकर आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत लेकर आत्म-साधना करने का निश्चय कर लिया।



बारह

46

अब पछताये क्या होत है जब

ज्ञानेश ने कहा - “मोहन ! तुम अपनी भूल मानो या न मानो, पर सच यह है कि धनश्री और रूपश्री जैसी सर्वगुणसम्पन्न बेटियों को और भोली-भाली ममता की मूर्ति उनकी माँ को इस दुःखद और दयनीय स्थिति में पहुँचाने में तथा इकलौते बेटे को पोलियों से पीड़ित और अनाथ बनाने में सबसे अधिक दोष यदि किसी का है तो वह तुम्हारा ही है। जब आमद कम और खर्च अधिक होता है तब यही हालत होती है, तुम्हें अपना तनाव कम करने के लिए शराब के नशे में डूबे रहने के बजाय आमदनी बढ़ाने के साधन सोचने चाहिए थे, उसके बदले तुमने मद्यपान की आदत डालकर एक और नया खर्च बढ़ा लिया। इस नशे ने तुम्हें बदनाम तो किया ही, बीमार भी कर दिया। जरा सोचो! नशा परेशानियों से बचने का उपाय है या परेशानियाँ बढ़ाने का कारण है? लोग शराब सहारा पाने के लिए पीते हैं; परन्तु यदि शराब सहारा दे सकती होती तो व्यक्ति उसे पीकर लड़खड़ाता क्यों ? अर्द्धविक्षिप्त क्यों हो जाते हैं।

जो व्यक्ति अपनी पत्नी और सन्तान का सही ढंग से भरण-पोषण, देख-रेख और संरक्षण जैसे अनिवार्य कर्तव्य का पालन नहीं कर सकता, उसे शादी-ब्याह रचाकर पत्नी और सन्तान के सुख की कल्पना करने का भी अधिकार नहीं है।

तुम्हें ज्ञात होना चाहिए कि अधिकार और कर्तव्य दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। कर्तव्य भूलते ही अधिकार भी स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं।”

तुमने दुर्व्यसनों में पड़कर अपने परिवार को जिस दुःख के सागर में डुबो दिया है, उस दुःख को तुम्हारा यह रोना-धोना, दुःखी होना,

पश्चाताप करना, कम नहीं कर सकता।”

ज्ञानेश की बातें सुनकर मोहन भावुक हो उठा, स्वयं को संभाल न सका। वह औरतों की तरह फूट-फूटकर रोने लगा - पश्चाताप के आँसू बहाते हुए बोला -

“ऐसा कौन-सा पाप है जो मैंने नहीं किया।” अपनी कमाई के साथ पिता की करोड़ों की सम्पत्ति भी मैंने गमा दी। यह बात सच है कि खोटे/बेईमानी के धंधों से जो पैसा आता है, वह मूलधन को भी साथ लेकर खोटे रास्ते से ही चला जाता है। कहा भी है -

अन्यायोपार्जितं वित्तं, दसवर्षाणि तिष्ठति ।

प्राप्ते एकादशे वर्षे समूलं हि विनश्यति ॥

अन्याय से कमाया धन अधिकतम दश वर्ष तक ठहरता है, पश्चात् मूल सहित नष्ट हो जाता है।

जब कुछ नहीं बचा तो मुझे साधारण क्लर्क की नौकरी करनी पड़ी; मेरे दुर्व्यसनों के कारण ही मेरे पिता हृदयाघात से परलोक सिधारे। माँ की ममता को मैंने कुचला, उसके वैधव्य का कारण मैं बना। पत्नी, पुत्रियों और पुत्र के जीवन के साथ खिलवाड़ मैंने किया। एक बात हो तो कहूँ, क्या-क्या गिनाऊँ ? सचमुच मैं किसी को मुँह दिखाने लायक ही नहीं रहा; अतः अब मुझे जीने का भी अधिकार नहीं रहा।”

ज्ञानेश द्वारा धैर्य बंधाने पर मोहन चुप तो हो गया, पर उसके मन के विकल्प नहीं रुके, अन्तर्जल्प चलता ही रहा -

“हे भगवान ! मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? मुझे तो चुल्लू भर पानी में डूबकर मर जाना चाहिए; मेरी प्राणों से प्यारी बेटियों का दुःख मुझसे देखा नहीं जाता। उनके दुःखों को अनदेखा करने के लिए, भूलने के लिए ज्यों-ज्यों मैं नशे में डूबने की कोशिश करता हूँ, त्यों-त्यों ये दुःख बढ़ते ही जाते हैं। अब तो नशे में डूबे रहने पर भी चारों ओर ये ही दृश्य दिखाई देते हैं। मरण के सिवाय अन्य कोई उपाय ही शेष नहीं रहा;

क्योंकि अब तो जहर खाने तक को पैसे नहीं रहे। नशे में डूबे रहने के लिए भी तो पैसे चाहिए न ? मदिरा मुफ्त में तो आती नहीं ! मदिरा पीने के लिए भी अब मैं पैसे कहाँ से लाऊँ ? घर की तो एक-एक वस्तु इस मदिरा देवी की बलिवेदी पर चढ़ा चुका हूँ। अब तो.....।”

इसतरह अन्तर्जल्प करते-करते उसकी आँख लग गई। आँख तो लग गई, पर सोते-सोते स्वप्न में भी वही रटन....।

ज्ञानेश आत्मचिंतन और तत्त्वमंथन करने हेतु एकान्त स्थान खोजते हुए कभी सघनवृक्ष की छाया तले तो कभी किसी बाग-बगीचे में और कभी किसी तीर्थ पर चला जाता था।

एक दिन वह नदी के किनारे पर बैठा-बैठा सूर्यास्त का मनोहारी दृश्य देख रहा था और सोच रहा था - “जैसे इस सूर्य की इहलीला समाप्त हो रही है, इसका प्रकाश व प्रताप प्रतिक्षण क्षीण हो रहा है; ठीक इसीतरह मानव जीवन भी प्रतिपल मृत्यु की ओर बढ़ रहा है; अतः जीवन का प्रकाश रहते यथासंभव शीघ्र ही आत्मा-परमात्मा का चिन्तन-मनन कर वीतरागधर्म की प्राप्ति कर लेना चाहिए।”

मुड़कर देखा तो गोते खाता, डूबता-उतरता एवं घबराता हुआ हाथ-पाँव फड़फड़ाता एक व्यक्ति दिखाई दिया। जो कुछ-कुछ जाना-पहचाना-सा लगा। ज्ञानेश ने पास आकर देखा तो आँखें फटीं की फटीं रह गईं।

“अरे ! यह तो मोहन है। इसे यह क्या सूझा ? माना कि इसे अपने किए पापों का पश्चात्ताप है, आत्मग्लानि भी बहुत है। परऐसा अनर्थ ? निश्चय ही वह अपना संतुलन खो बैठा है। अन्यथा इन सामान्य से अल्पकालिक दुःखों से बचने के लिए वह आत्मघात करके नरक गति के असह्य, कल्पनातीत, दीर्घकालिक दुःखों को आमंत्रण नहीं देता।”

“अरे ! मैं यह क्या सोचने लगा ? अभी यह सोचने का समय नहीं

है। देखूँ तो सही, सम्भव है कि वह अभी जीवित हो।”

47 - ऐसा विचार आते ही ज्ञानेश अपनी जान को जोखिम में डालकर अथाह नदी में कूद गया और उसे नदी के मध्य से किनारे पर खींच लिया।

मोहन के पेट में बहुत पानी भर चुका था, पल दो पल में ही प्राण-पखेरू उड़नेवाले थे; पर दैवयोग से वह बच गया। प्रायश्चित्त की गंगा में गोते लगाकर उसने पापों का प्रक्षालन तो कर लिया; पर अभी भी उसकी आत्मग्लानि कम नहीं हुई।

उसने ज्ञानेश से कहा - “भाई ! इन दुर्व्यसनों के कारण मैं आत्महत्या जैसे जघन्य पाप करने को विवश हो गया और नदी में कूद पड़ा; यदि आप नहीं बचाते तो.....!”

मैं इस जीवन से तो मानों मर ही चुका हूँ। अतः अब मैं पुनः इस पापचक्र एवं विषयवासना के दलदल में नहीं फंसना चाहता हूँ। अब तो मैं आत्मा का कल्याण करने के लिए ही जीना चाहता हूँ। एतदर्थ आपकी शरण में ही रहना चाहता हूँ।”

ऐसा कहते-कहते वह भावुक हो उठा, उसकी आँखों में पुनः पश्चात्ताप की अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी।

ज्ञानेश ने कहा - “देखो, मोहन ! इस तरह पारिवारिक उत्तरदायित्वों से पलायन करने से धर्म नहीं होता। भावुकता में धर्म का अंकुर नहीं उगता। सर्वप्रथम अपने इन दुर्व्यसनों से मुक्ति पाने का प्रयत्न करो। अपने परिवार की स्थायी आजीविका के लिए कोई उपाय सोचो। साथ-साथ में थोड़ा समय निकाल कर हमारी संगोष्ठियों में सम्मिलित होकर सत्संगति भी करो, शास्त्रों का स्वाध्याय करो। बस, यही धर्म की पृष्ठभूमि है। धर्मध्यान निराकुलता में, निश्चित और निर्भय होने पर ही संभव है। एतदर्थ जैसा मैं कहूँ तदनुसार अपनी दैनिक चर्या बनाओ, यही सुखी होने का सही उपाय है।” मोहन मौन स्वीकृति के साथ ज्ञानेश के मार्गदर्शन का अक्षरशः पालन करने का दृढ़ संकल्प लेकर घर चला गया।

तेरह

48

पाप से घृणा करो, पापी से नहीं

ज्ञानेश का मित्र धनेश दुर्व्यसनी लोगों के सम्पर्क में रहने से अपनी झूठी शान-वान के चक्कर में व्यसनी तो हो गया था, पर बेईमान नहीं था। अपने व्यसनों की बुरी आदत के कारण हुई परिवार की परेशानियों को और अपने श्वसुर मोहन के दुःखी परिवार को देखकर अब वह अपने व्यसनों को स्वयं भी बुरा मानने लगा था और उन्हें छोड़ने का मन भी बना चुका था, पर अभी वह छोड़ नहीं पा रहा था।

जहाँ कुछ समय पहले वह व्यसनों की बुराईयों को सुन भी नहीं सकता था, वहीं अब वह उन्हें त्यागने का बार-बार संकल्प भी करने लगा था।

जब वह ऐसी भावना व्यक्त करता तो ज्ञानेश सहित सभी परिजन-पुरजनों को भारी प्रसन्नता होती, बहुत अच्छा लगता; परन्तु उसके संकल्प हफ्ते-दो हफ्ते से अधिक नहीं टिक पाते।

इन दुर्व्यसनों की प्रकृति ही कुछ ऐसी है, जो एक बार फँसा वह फंसता ही जाता है। फिर इनसे उबरना असंभव तो नहीं है, किन्तु बहुत कठिन काम है। इसी कारण इस बार उसके त्याग के संकल्प पर किसी ने कोई खास खुशी जाहिर नहीं की।

परन्तु इस बार धनेश ने सचमुच दृढ़ संकल्प के साथ सम्पूर्ण दुर्व्यसनों को जीवनपर्यन्त के लिए तिलांजलि दे ही दी और ज्ञानेश के सान्निध्य में प्रतिदिन नियमित होनेवाले सेमीनारों, संगोष्ठियों में सम्मिलित होने लगा। यदि व्यक्ति का संकल्प दृढ़ हो तो दुनिया में असंभव तो कुछ भी नहीं है।

धनेश के व्यसनों से विरक्त होने की चर्चा हवा में गंध की तरह गाँव

भर में फैल गई। सर्वत्र सबके मुँह पर एक ही बात अरे ! सुना आपने! धनेश.... धनेश... ..धनेश ने दुर्व्यसन छोड़ने का पक्का इरादा कर लिया है; आश्चर्य प्रगट करते हुए कोई कहता - यह पश्चिम से सूरज कैसे निकल आया ?

कोई कहता - “सौ सौ चूहे मार बिल्ली हज को चली है।”

एक आशावादी व्यक्ति बोला - “अरे भाई ! इसमें कौन-सी असंभव बात है, बड़े से बड़े धर्मात्मा भी धर्मात्मा बनने के पहले तो पापी ही थे। पापी ही तो पाप का त्याग कर एक न एक दिन पुण्यात्मा और धर्मात्मा बनते हैं। श्रीकृष्ण के पुत्र शंभुकुमार एवं राजा मधु की पौराणिक कथाएँ इसके ज्वलंत उदाहरण हैं।

हरिवंश पुराण में एक कथा है कि - महारानी जाम्बुवती की कोंख से जन्मे शंभुकुमार ने अपनी हवस को पूरा करने की खोटी भावना से अपने पिता श्रीकृष्ण को किसी तरह प्रसन्न करके पुरस्कार स्वरूप एक माह के लिए राज्य सत्ता प्राप्त की थी और जब शंभुकुमार को सत्ता सौंपकर श्रीकृष्ण अज्ञातवास में चले गये तो अवसर पाते ही शंभुकुमार ने अपनी पापमय कामवासना की स्वच्छंद प्रवृत्ति से ऐसे निर्लज्ज कार्य किए कि जिससे प्रजा त्राहि-त्राहि कर चीख उठी।

फिर भी पुराण कहते हैं कि उन्हीं शंभुकुमार ने पापों का प्रायश्चित्त करके आत्म-साधना के अपूर्व पुरुषार्थ द्वारा गृहस्थपना छोड़कर निजस्वभाव साधन द्वारा कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त किया।

ऐसा ही दूसरा प्रसंग राजा मधु के साथ बना था। उसने अपने अधीनस्थ राजा हरिभद्र की पत्नी चन्द्राभा का अपहरण करके, उसे अपनी रखैल (उप-पत्नी) बनाकर घर में रख लिया। परिणामस्वरूप चन्द्राभा का असली पति अपनी प्रियतमा चन्द्राभा के वियोग में पागल हो गया और गली-गली घूम-घूमकर अपनी पत्नी को वापिस लौटा

देने की गुहार करता रहा। फिर भी राजा मधु ने उसे नहीं लौटाया। ऐसा अन्याय करने पर भी राजा मधु ने अन्त में अपनी भूल सुधार कर स्वर्ग समान भोगभूमि में उत्तम गति प्राप्त की।”

तीसरा बोला - “इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि अरे भैया ! इन चक्करों से जब छूट पावे, तभी अच्छा। दुर्व्यसनों से पल्ला छुड़ाना आसान काम नहीं है।

जंग जीतना आसान है, पर व्यसनों से पार पाना कठिन है। जो दिन में दस-दस पैग पीता हो, दिन-रात शराब के नशे में धुत्त रहता हो; मुँह से रेलगाड़ी के कोयले के इंजन की तरह लगातार धुँआ छोड़ता ही रहता हो; रात-रात भर जाग कर नृत्यांगनाओं के नृत्य-गान देखता-सुनता रहता हो; दिन भर आँखों में नींद भरे अर्द्ध विक्षिप्त-सा पड़ा रहता हो, जिसका न खाने-पीने का सही समय हो, न सोने-जागने का कोई निश्चित समय - ऐसा व्यक्ति जब भी, जो भी, जितनी भी बुराईयों का त्याग करता है, अच्छा ही है। आप ही सोचो।”

चौथा बोला - “यह सब ठीक है; परन्तु यह तो श्मशानियाँ वैराग्य है। जब डॉक्टर ने जवाब दे दिया कि - जाओ ! घर जाओ !! अब मेरे पास आने की जरूरत नहीं है। कहीं भी/किसी भी डॉक्टर के पास जाने की जरूरत नहीं है। बस, दो-चार माह और पीलो, खालो और मजे उड़ाओ, फिर तो.....कहते-कहते डॉक्टर चुप हो गया।

डॉक्टर को चुप देख धनेश ने लड़खड़ाती जबान में कहा - “फिर...क्या....?”

डॉक्टर बोला - “फिर तो जन्म-जन्मान्तरों में नरक और पशु पर्याय में जाकर शराब तो क्या ? पानी की एक-एक बूँद को और अन्न के एक-एक दाने को भी तरसना ही है।”

बीच में बात काटते हुए तीसरे ने पुनः पूछा - “और क्या-क्या कहा था डॉक्टर साहब ने ?”

49

चौथे का उत्तर था - “अरे ! उन्होंने साफ-साफ कह दिया - धनेश! सिगरेट व शराब पीने से तुम्हारे दोनों फेफड़े जर्जर हो गये हैं, लीवर ने काम करना बन्द कर दिया है। मांसाहार से तुम्हारी आंतें बिल्कुल खराब हो गई हैं। बाजारू औरतों के सम्पर्क से तुम्हें ‘एड्स’ जैसी खतरनाक जानलेवा बीमारी हो सकती है। सिगरेट, सुरा और सुन्दरी ने तुम्हारे अंग-अंग को क्षीण कर दिया है। जितने वर्ष तुम जी चुके हो, अब उतने महीने भी तुम्हारे जीने की आशा नहीं है।”

पाँचवाँ बोल उठा - “अच्छा ! यह बात है, तभी तो मैं कहूँ कि यह पश्चिम से सूरज कैसे निकल आया ? अब समझ में आया कि मौत को माथे पर मँडराता देख धर्मात्मा बनकर परमात्मा को प्रसन्न करने का प्रयास किया जा रहा है; पर ऐसे पापियों से परमात्मा प्रसन्न होनेवाले नहीं हैं। भगवान इतने भोले थोड़े ही हैं, इसने भी उनकी कब सुनी जो वे इसकी सुनेंगे।”

चौथे ने पुनः कहा - “अरे भाई ! तुम्हें अकेले उसी से इतनी चिढ़ क्यों है ? हम-तुम भी तो उसी थैली के चट्टे-बट्टे हैं। कोई दो कदम आगे तो कोई दो कदम पीछे। हो सकता है हम उस स्टेज पर भी न पहुँचें, हमें अपनी ओर भी तो देखना चाहिए। ऐसा न हो कि हम कुत्ते की मौत मरें और कान में धर्म के दो शब्द सुनाना तो दूर, कोई मुँह में पानी की दो बूँदें डालने वाला भी न मिले।”

इसी बात का समर्थन करते हुए छठवाँ बोला - “अरे भाई ! ऐसी क्या बात करते हो ? आज जो महान हैं, वे भी तो कभी न कभी इसी तरह भूले-भटके ही थे। तभी तो वे संसार में जन्म-मरण करते रहे। जब संभले-सुधरे, तभी तो उन्हें भी मोक्ष मिला।

इसीलिए तो कहा है कि “पाप से घृणा करो, पापी से नहीं।” पापी तो कभी भी परमात्मा बन सकता है।

भगवान महावीर के जीव को ही देख लो ! कहाँ पुरुरवा भील जैसा

हिंसक हत्यारा, कहाँ मारीचि जैसा मिथ्यादृष्टि और कहाँ परमपूज्य भगवान महावीर स्वामी की परम पवित्र पर्याय ?

भील के भव में उन्होंने क्या-क्या पाप नहीं किये होंगे ? शराब भी पीते ही होंगे, मांस भी खाते ही होंगे। आखिर जंगली ही तो थे। अतः भूत को तो भुलाना ही पड़ेगा। वर्तमान को संभालने से भविष्य अपने आप संभल जाता है। अतः वह जब चेता तभी ठीक। कल्याण होने में देर ही क्या लगती है ? अनन्त काल की भूलों को मेटने के लिए अनन्त काल थोड़े ही लगता है ? जिसप्रकार रातभर के स्वप्न जागते ही समाप्त हो जाते हैं; ठीक उसीप्रकार भेदज्ञान होते ही, सम्यग्ज्ञान का सूर्य उदित होते ही, सारा अज्ञान अन्धकार नष्ट हो जाता है और पापाचार छूट जाते हैं।”

छठवें मित्र ने बात को आगे बढ़ाते हुए कहा - “हाँ, अब भी यदि वह आत्मा का आश्रय न ले सका और मूलभूत सिद्धान्तों को न समझ सका, केवल बाह्य धर्मक्रियाओं को ही धर्म मानकर संतुष्ट हो गया तो वह पीड़ाचिंतन जैसे आर्तध्यान से स्वयं को नहीं बचा पाएगा। जब इतने भयंकर रोगों से उसकी देह ग्रसित है तो दर्द तो होगा ही। बार-बार उस दर्द की ओर ध्यान जाए बिना नहीं रहेगा। शारीरिक पीड़ा के साथ मानसिक पीड़ा भी होती ही है।

इस सबसे बचने के लिए देह और आत्मा की भिन्नता और व्यक्ति तथा वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त को सतत् याद रखना, अपने किए पापों के फल का विचार और संसार की असारता का बारम्बार स्मरण करना अत्यन्त आवश्यक है।

अन्यथा पीड़ाचिंतन रूप आर्तध्यान का फल तो अधोगति ही है; क्योंकि इसमें परिणाम निरन्तर संक्लेशमय रहते हैं। अत्यन्त संक्लेश भावों से मरण करके भयंकर दुखद नरक में जाते हैं।

अतः यदि अपना कल्याण करने की अभिलाषा जगी हो तो ज्ञानेश

जैसे व्यक्ति के सान्निध्य में रहना ही होगा, उनका सत्संग करना ही होगा।”

50

वैसे तो दुनिया में बहुत कलायें हैं; परन्तु उनमें दो मुख्य हैं - एक आजीविका और दूसरी आत्मोद्धार। अथवा एक जीविका और दूसरी जीवोद्धार एक वर्तमान जीवन की आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु और दूसरी परलोक में सुखद जीवन प्राप्त करने के लिए।

ज्ञानेश दोनों कलाओं में निपुण है। जीवन में सफलता के सूत्रों की चर्चा करते हुए उसने कहा था -

१. सर्वप्रथम यह ध्येय निश्चित करना कि - जीवन की आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु न्याय नीति पूर्वक आर्थिक सम्पन्नता के साथ-साथ परलोक में सुखद आत्मकल्याणकारी संयोगों की उपलब्धि के लिए आध्यात्मिक वातावरण बनाना एवं उसके लिए साधन जुटाना।

२. ध्येय प्राप्त करने के लिए आयोजन (प्लानिंग) करना एवं आयोजनों को सफल करने के लिए परिश्रम से पीछे नहीं हटना।

३. ध्येय के अनुरूप वातावरण बनाना।

४. ध्येयों की सिद्धि के लिए अनुकूल अवसरों की तलाश करना एवं प्राप्त अवसरों का भरपूर उपयोग करना/कराना।

५. बीच-बीच में आये चले-जों एवं समस्याओं को हँसते-हँसते स्वीकार करना एवं सकारात्मक समाधान खोजना।

इसप्रकार धनेश और ज्ञानेश को लेकर उसकी मित्रमण्डली में काफी अच्छा ऊहापोह हुआ। जिससे अनेक लोगों के भ्रम भी भंग हुए तथा बहुत से तथ्य भी सामने आये।

किसी ने ठीक ही कहा है - “वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः।”

ऐसी चर्चा करते-करते सभी अपने-अपने घर चल गये।



चौदह

51

किसने देखे नरक

विज्ञान ने सोचा - “भारतीय भूमि पर जन्मे मानवों को धर्म का विशेष ज्ञान हो या न हो, वे धर्म के सही स्वरूप को जानते हों या न जानते हों, वे दुनिया की दृष्टि में धर्मात्मा हों या न हों; पर धर्म करने की भावना तो प्रायः सभी में रहती ही है। अपनी-अपनी समझ के अनुसार अधिकांश नर-नारी धर्मसाधन करते भी हैं।

यह सब देखकर ऐसा लगता है कि अभी धर्म की भावना जिन्दा तो है, आत्मा के किसी न किसी कोने में धर्म संस्कार के बीज तो हैं, उन्हें मात्र उपयुक्त विवेकरूपी खाद-पानी की जरूरत है, सन्मार्ग दिखाकर सही दिशा देने की जरूरत है।

भाई, धर्म प्रदर्शन की वस्तु नहीं है, अपनी मान-प्रतिष्ठा के लिए धर्मायतनों के निर्माण में धन दे देने मात्र से धर्म होने वाला नहीं है। उसके लिए स्वयं को धर्म ग्रन्थों का अध्ययन करना होगा। आत्मा-परमात्मा के स्वरूप को एवं ऑटोमेटिक विश्वव्यवस्था को समझकर पर-पदार्थों से मोह-राग-द्वेष त्याग कर समता एवं वीतरागी बनना है; क्योंकि सही मायने में वीतरागता ही धर्म है।

सेठ लक्ष्मीलाल को अपने उद्योग-धंधों और व्यापार में अति व्यस्तता के कारण धर्मग्रन्थों को पढ़ने और उनमें से वीतराग होने के संबंध में शोध-खोज करने एवं परलोक के संबंध में सोचने का तो अभी समय ही कहाँ? जब भी उनसे कोई प्रवचन में आने या स्वाध्याय करने की बात कहता तो उसका एक ही उत्तर होता है - “अरे भाई! अभी तो मरने की भी फुर्सत नहीं है। हाँ, हमारे लायक कहीं/कोई काम हो

तो कहना, आवश्यकतानुसार हम आपका तन-मन-धन से सहयोग करने को तैयार हैं।”

सचमुच देखा जाए तो वास्तविक बात यह है कि उसे आत्मा-परमात्मा और परलोक के विषय में न कुछ जानकारी है और न कुछ जिज्ञासा ही है। उसने इतनी दूरदृष्टि से कभी सोचा ही नहीं है। धार्मिक कार्यों में धन खर्च करने से ही उसे सर्वाधिक सम्मान मिलता रहा, इसकारण न्याय/अन्याय से पैसा कमाने व धर्म के नाम पर खर्च करने में ही उसकी रुचि बढ़ती गई।

सेठ लक्ष्मीलाल के जितने भी पारमार्थिक ट्रस्ट हैं, वे कहने मात्र परमार्थ के हैं; वस्तुतः तो वे सभी भोग-सामग्री की प्राप्ति, उसी भोग सामग्री के संरक्षण एवं भोगों की पुष्टि के लिए ही हैं। अतः उसका तो स्पष्ट अशुभ आर्तध्यान ही है, जिसका फल पशु योनि है।

ज्ञानेश ने सोचा - “उस बेचारे को कुछ पता तो है ही नहीं कि - मेरे जो ये भाव हो रहे हैं, इनका फल क्या होगा? अतः ऐसा कोई उपाय अवश्य सोचना पड़ेगा, जिससे सेठ लक्ष्मीलाल धर्म की सही वस्तुस्थिति को समझ सके। धर्म का मर्म पहचाने। सेठ को मार्गदर्शन देने का अभी सभी प्रकार से अनुकूल अवसर है, यदि यह अवसर चूक गये तो.....।”

सेठ लक्ष्मीलाल ज्ञानेश के पिता का सबसे घनिष्ठ मित्र था। वह ज्ञानेश के पड़ोस में ही रहता था। घर जैसे ही संबंध थे उन दोनों परिवारों में।

यद्यपि सेठ लक्ष्मीलाल अपने गाँव में भी आर्थिक दृष्टि से खूब सम्पन्न था, कोई कमी नहीं थी उसे वहाँ; पर वह महत्वाकांक्षी बहुत था। अतः बीस वर्ष पहले व्यापार के विस्तार के लिए वह उद्योगनगरी

बम्बई में पहुँच गया था। वहाँ भाग्योदय से अमेरिका जैसे विकसित देश से व्यापारिक सम्बंध बढ़ाने में सफल हो गया। फलस्वरूप वह दस-बारह वर्ष में ही टाटा-बाटा जैसे उद्योगपतियों की श्रेणी में खड़ा हो गया।

ज्ञानेश सोचता है - “अब सेठ के पास आय के इतने अधिक स्रोत हो गये कि यदि वह अपने शेष अमूल्य जीवन का एक क्षण भी उद्योग धंधों में न दे तो भी उसकी आय पर और उद्योग-धंधों पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ेगा; क्योंकि उसके व्यापार को सुचारू रूप से चलाने के लिए उसके पास योग्यतम कार्यकर्ता एवं कर्मचारी तो हैं ही, उसके पुत्र-पौत्र भी उससे अधिक कुशल हो गये हैं और पूरी जिम्मेदारी से काम संभालने लगे हैं।

सेठ को डॉक्टर ने पूर्ण विश्राम करने का परामर्श दिया है। उसे दो बार तो हार्ट-अटैक हो चुका है। पर पता नहीं, वह अपनी जान को जोखिम में डालकर अब ऐसा क्यों करता है? मना करने पर भी क्यों नहीं मानता? जैसा उत्साह और लगन पैसा कमाने में है, काश! वैसी ही रुचि और लगन आत्मा के कल्याण की होती तो.....?

यदि सेठ आत्मकल्याण का यह अवसर चूक गया तो पुनः ऐसा सुअवसर पाना असंभव नहीं तो दुर्लभ तो हो ही जायेगा। लगता है सेठ की होनहार ही खोटी है; अन्यथा ये दिन कोई ऐसी मोह-ममता में पड़े रहने और ऐसे बिना मतलब के काम करने के थोड़े ही हैं।

किसी की कोई मजबूरी हो; रोटी, कपड़ा और मकान की समस्या हो तो बात जुदी है; पर उसके साथ ऐसा कुछ भी तो नहीं है।

बम्बई नगर में तो सेठ लक्ष्मीलाल के कोठी-बंगले हैं ही, देश-विदेश के प्रमुख औद्योगिक नगरों में भी पोतों के डायमण्ड हाउस बन

गये हैं।

52

यदि सेठ चाहे तो चौबीसों घंटों फ्री रह सकता है और अपना पूरा समय धर्म-ध्यान में लगा सकता है; परन्तु वह धर्म-ध्यान की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं देता है। उसे तो परिग्रह संग्रह और उसके प्रदर्शन में ही आनन्द आता है।

हृदयाघात के रोगी होने पर भी सेठ अपने आगंतुक अतिथियों को अपना कारोबार, कोठी-बंगले तथा चारों ओर बिखरा वैभव घंटों घूम-घूमकर नीचे-ऊपर चढ़-उतरकर दिखाता है। बीच-बीच में बिना कारण ओ रामू! अरे श्यामू!! की आवाजें लगा-लगाकर अपने अतिथियों को अपने चेतन परिग्रह का अहसास भी कराता रहता है।

यद्यपि धन का होना परिग्रह पाप नहीं है, परन्तु धन में ममत्व एवं सुखबुद्धि परिग्रह पाप है, सेठ लक्ष्मीलाल का भी जो धन में ममत्व है, उसके प्रदर्शन में उसे जो आनन्द आता है, वह आत्मपरिणाम ही परिग्रह पाप है। अपने पाप-पुण्य के भावों की पहचान के अभाव के कारण सेठ इस पाप से बच नहीं पाया।

बेचारे आगंतुक भी सेठ का मनोविज्ञान समझते हैं। अतः न चाहते हुए भी सच्ची-झूठी हाँ में हाँ मिलाते सेठ की मुस्कान में अपनी नकली मुस्कान मिलाते, जल्दी ही छुटकारा पाने के लिए कोई न कोई बहाना खोजते; पर सेठ की पकड़ जोंक से कम थोड़े ही थी, जो आसानी से छूट जाये।

सेठ लक्ष्मीलाल चाय-नाश्ता के बहाने रहा-सहा वैभव भी दिखाकर ही दम लेता। ऐसा करते सेठ शरीर से भले थक जाए, पर मन से कभी नहीं थकता; क्योंकि इसमें उसे आनन्द जो आता है।

सेठ जिसे अपना सौभाग्य समझे बैठा है, भाग्योदय माने बैठा है; वही

उसके लिए दुर्भाग्य बनकर, क्रूर काल बनकर उसे कब धर दबोचेगा – इसकी उसे कल्पना भी नहीं है। उसे नहीं मालूम कि यह परिग्रहानन्दी, विषयानन्दी रौद्रध्यान है, प्योर पाप का भाव है जिसका फल नरक है।

ज्ञानेश ने स्वयं भी सेठ को एक-दो बार स्वाध्याय करने और प्रवचनों में सम्मिलित होने की प्रेरणा दी और मौके-मौके पर आश्रम में पधार कर आध्यात्मिक ज्ञानार्जन करने का आग्रह भी किया;

ज्ञानेश के सत्संग से धीरे-धीरे सेठ के विचारों में परिवर्तन तो हो रहा था; परन्तु जिस गति से उग्र मौत की ओर ले जा रही थी, उस गति से बदलाव नहीं आ पा रहा था; आये दिन राज-काज के काम और सामाजिक संस्थाओं की देखभाल। इन सबसे समय बचे तब स्वाध्याय की सूझे न ?

ज्ञानेश ने कहा – “लक्ष्मी काका ! आपका परिचय और प्रेम ही तो हमें परेशान करता है और इसी कारण हम लोगों को आपसे बारम्बार यह कहने का विकल्प आता है कि आप स्वाध्याय किया करें, सेमीनारों में, शिविरों में आकर लाभ लिया करें; पर आप तो हमारी बात पर ध्यान ही नहीं देते।”

सेठ की बातों से ज्ञानेश उसके इस मनोविज्ञान को समझने लगा था कि इसे आदर-सन्मान चाहिए, आमंत्रण चाहिए। इसलिए जो उसको विशेष आयोजनों में आदरपूर्वक बुलाता है, वहाँ वह दौड़ा-दौड़ा चला जाता है। अतः उसने सोचा – “क्यों न सेठ को किसी शिक्षण-शिविर के उद्घाटन में मुख्य-अतिथि बनाकर बुलाया जाये ? एकबार यहाँ आकर यहाँ का वातावरण देखेगा, वैराग्यवर्द्धक और दुःख निवारक प्रवचन सुनेगा, श्रोताओं की भीड़ देखेगा तो संभव है सेठ को स्वाध्याय करने की लगन लग जाये। कभी-कभी भीड़ से भी लोग प्रभावित होते हैं। एकबार तत्त्वज्ञान प्राप्त करने की रुचि जाग्रत हो गई तो फिर फुर्सत

की समस्या नहीं है। फिर तो फुर्सत ही है। समाज और राज-काज के काम तो शौक के हैं, करे न करे, क्या फर्क पड़ता है ? पर सेठ बिना विशेष आमंत्रण के नहीं आयेगा; अतः विशेष आमंत्रण तो भेजना ही होगा।”

-- -- --

बड़ा सेठ, बड़ा विद्वान, बड़ा नेता या बड़ा अभिनेता – कोई भी बड़ा नामधारी व्यक्ति हो, यदि वह तत्त्वज्ञान विहीन हो तो उसे ‘बड़प्पन’ नाम की बीमारी हो ही जाती है। फिर वह छोटे छोटे प्रवचनकारों को तो गिनता ही नहीं है। इस कारण ऐसे बड़े लोगों का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह होता है कि उनके तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के अवसर दुर्लभ हो जाते हैं।

जबतक कोई किसी बड़े कार्यक्रम में अतिथि-विशेष बनाकर इन बड़े लोगों को न बुलाये, तब तक वे वहाँ जा नहीं सकते। बुलाये जाने पर पहुँच जाने के बाद भी पूरे समय नहीं ठहरते। उन्हें लगता है – “अधिक देर तक रुकने से कहीं छोटा न समझ लिया जाऊँ।” यह सोचकर दूसरों को सुने बिना अपना भाषण देकर भाग जाते हैं; पर सेठ लक्ष्मीलाल तो ज्ञानेशजी को सुनने की भावना से ही आया था सो अंत तक बैठा रहा।

शिविर का उद्घाटन समारोह प्रारंभ हुआ। सेठ लक्ष्मीलाल मुख्य अतिथि के पद पर आसीन थे। शिक्षण-शिविरों की आवश्यकता एवं उपयोगिता पर बोलते हुए ज्ञानेश ने कहा – “देखो भाई ! जब कोई व्यक्ति दो-चार दिन की यात्रा पर घर से बाहर जाता है तो वह नाश्ता-पानी और पहनने-ओढ़ने के कपड़ों की व्यवस्था करके तो जाता ही है। कब, कहाँ ठहरना है, वहाँ क्या व्यवस्था होगी ? इसका भी पहले से ही पूरा सुनियोजन करता है।

जब ट्रेन में एक रात बिताने के लिए महीनों पहले से रिजर्वेशन

कराये जाते हैं, होटलों में हजार-हजार रुपया रोज के कमरे बुक कराते हैं; तो हमारी समझ में यह बात क्यों नहीं आती कि इस जन्म से अगले जन्मों की अनन्तकालीन लम्बी यात्रा करने के लिए भी कहीं/कोई रिजर्वेशन की जरूरत है ? जिसका रिजर्वेशन इस धूल-मिट्टी के धन से नहीं, बल्कि धर्म के धन से होता है, पुण्यबंध के हेतुभूत शुभभावों से होता है।

अरे भाई ! साठ-सत्तर साल के इस मानवजीवन को सुखी बनाने के लिए जब लम्बी-लम्बी सात-सात पीढ़ियों के लिए प्लानिंग करते हैं। स्थायी आमदनी रायल्टी सिस्टम के नये-नये बिजनेस करने की योजनायें बनाते हैं तो उसकी तुलना में अनन्त काल के भावी जीवन की लम्बी यात्रा के बारे में हम क्यों नहीं सोचते कि उसको सुखमय बनाने के लिए हम क्या करें ? क्या कर रहे हैं ? इसका भी लेखा-जोखा कभी किया है हमने ? यदि इस जन्म की व्यवस्था जुटाने से ही फुरसत नहीं मिली है तो आगे की सोचो कैसे ? अतः दोनों जन्मों की प्लानिंग हमें एकसाथ ही करना है।

भविष्य को सुखमय बनाने की बात तो बहुत दूर की है, अभी तो वर्तमान के सुखाभास के चक्कर में ही हम आर्त-रौद्रध्यान रूप खोटा ध्यान करके अपने भविष्य को अंधकूप में धकेलने का ही काम कर रहे। यह बात गंभीरता से विचारणीय है।

ज्ञानेश ने अपने भाषण में मानव-जन्म की दुर्लभता पर प्रकाश डालते हुए इस दुर्लभ मानव जीवन एवं सबप्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों का आत्मकल्याण में सदुपयोग करने की प्रेरणा कुछ इस ढंग से दी कि सभी को यह अहसास होने लगा कि सचमुच अपने शेष जीवन का एक क्षण भी अब राग-रंग में, विषय-कषाय में एवं इन्द्रियों के भोगों में खोना मानो अनन्त काल के लिए अनन्त दुःखों को आमंत्रण

देना है। यदि यह अवसर चूक गये तो....।

54

अतः अब एक क्षण भी इन विषय-कषायों व राग-द्वेष में बर्बाद करना उचित नहीं है।

देखो, धन कमाते-कमाते, धन का विविध भोगों के माध्यम से उपयोग करते-करते यदि जिन्दगी बीत जायेगी तो पुनः यह अवसर नहीं आयेगा; क्योंकि यह विषयानन्दी पापमय रौद्रध्यान है, जिसके फल में हमें नरकों में अनन्त दुःख भोगने होंगे।

जो धर्मशास्त्रों के स्वाध्याय को अपने जीवन का अभिन्न अंग बना लेते हैं, वे आत्मज्ञान के बल से धीरे-धीरे अपनी इच्छाओं को जीत लेते हैं; इसकारण उनको विषयों की इच्छा व्यर्थ लगने लगती है। वे पुण्योदय से प्राप्त न्यायोपात्त सामग्री में ही संतुष्ट रहते हैं। ऐसे संतुष्ट प्राणियों के पास पुण्य के फल में सुख के बाह्य साधनों की भी कमी नहीं रहती। इसकारण वे व्यक्ति सब तरह से सुखी रहते हैं।”

ज्ञानेश ने आगे कहा - “अरे ! जिस धन के लिए हम ऐसे पागल हो रहे हैं, वह धन तो धर्मात्माओं के चरण चूमता हुआ चला आता है और धर्मात्मा उसकी ओर देखते तक नहीं हैं। क्या देखें उसे ? है क्या उसमें देखने लायक ? अतः अर्थशास्त्र के साथ-साथ धर्मशास्त्र का भी गहन अध्ययन किया जाये तो निश्चित ही सन्मार्ग मिलना सुलभ हो सकता है।”

ज्ञानेश ने अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा - “जिन भावों में हम दिन-रात मग्न हैं, उन आर्त-रौद्ररूप खोटे-पापमय भावों का फल तिर्यच और नरक गति है।”

सेठ लक्ष्मीलाल ने ऐसी बातें तो कभी सुनी ही नहीं थीं। वह तो दिन-रात धन कमाने की धुन में माथा धुनता रहता था। साधनों की पवित्रता की परवाह किए बिना ही पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आनंद

माननेरूप विषयानन्दी रौद्रध्यान में ही डूबा रहता था। अतः ज्ञानेश के मुख से रौद्रध्यान संबंधी बातें सुनकर सेठ का रोम-रोम सिहर उठा, उसकी रुह काँप गई।

सेठ को विचार आया कि “मैं तो दिन-रात इन्हीं भावों में डूबा हूँ। अरे! इतना भयंकर दुःखद है इस रौद्रध्यान का फल।”

ज्ञानेश का भाषण चालू था, उन्होंने आगे कहा – “बहुत से लोगों को तो यह भी पता नहीं होगा कि ये नरक क्या बला है? अरे भाई! ये ऐसी दुर्गतियाँ हैं जहाँ हमें हमारे पापाचरण का अत्यन्त दुःखद फल असंख्य वर्षों तक सहना पड़ता है। यदि उन्हें यह पता होता तो वे लोग व्यर्थ ही इस रौद्र भावों के चक्कर में नहीं पड़े रहते, जिसके फल में ये पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़ों की योनियाँ मिलती हैं।

एक श्रोता बोला – “किसने देखे नरक?”

ज्ञानेश ने कहा – अरे भाई! यदि कोई एक जीव की हत्या करता है तो उसका फल एक बार फाँसी की सजा है; परन्तु जो रोजाना अपने स्वाद और स्वार्थ के लिए अनन्त जीवों की हिंसा करता हो, उसको अनन्त बार फाँसी जैसी सजा इस नरभव में तो मिलना संभव नहीं है। अतः कोई ऐसा स्थान अवश्य होना चाहिए कि जहाँ प्रतिसमय मरण-तुल्य दुःख हो; बस उसी स्थान का नाम नरक है, जो कि हिंसा आदि पाँचों पापों के फल में प्राप्त होता है।

धंधा-व्यापार तो बारहों मास चलता ही रहता है परन्तु धन का आना न आना, हानि-लाभ होना तो पुण्य-पाप के अनुसार ही होता है। महाकवि तुलसीदास ने कहा है –

“हानि-लाभ, जीवन-मरण, सुख-दुःख विधि के हाथ”

जिसके पास पैसा आता है छप्पर फाड़कर चला आता है और

जिसके भाग्य में नहीं होता वह दिन-रात दुकान पर बैठे-बैठे मक्खियाँ भगाया करता है। अतः पुण्य-पाप पर भी थोड़ा भरोसा करके समय अवश्य निकालो।

सेठ ने उद्घाटनकर्ता के पद से बोलते हुए हाथ जोड़कर विनम्र स्वर में कहा – “भाई ज्ञानेश का कहना बिल्कुल सही है। हम लोग व्यापारी अवश्य हैं, पर सचमुच व्यापार करना भी अभी हमें नहीं आया।

अब कुछ-कुछ यह समझ में आ रहा है कि असली व्यापार तो आप ही कर रहे हो। हम तो सचमुच बासा खा रहे हैं, पुराने पुण्य का फल भोग रहे हैं। नई कमाई तो अभी तक कुछ भी नहीं की है। वह काहे का व्यापार, जिसमें पाप ही पाप हो। सचमुच आत्मकल्याण का व्यापार ही असली व्यापार है। मैंने अबतक आप जैसे सत्पुरुषों के व्याख्यानों की उपेक्षा करके बहुत बड़ी भूल की है। मैं प्रयास करूँगा कि अब मैं आपके प्रवचनों का अधिक लाभ लूँ।”

ज्ञानेश के मन में इस बात की प्रसन्नता हुई कि सेठ ने भाषण को ध्यान से सुना और कुछ-कुछ समझने का प्रयास भी किया।

ज्ञानेश ने सोचा – सेठ की पकड़ भी ठीक है, बुद्धि तो विलक्षण है ही। अन्यथा बिजनेस में सफल कैसे होता? यदि होनहार भली होगी तो सेठ का कल्याण होगा ही – ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है।”

उद्घाटन का कार्यक्रम पूरा हुआ। अन्त में राष्ट्रीय आत्मगीत के साथ सभा विसर्जित हुई।



पन्द्रह

56

हार में भी जीत छिपी होती है

सेठ लक्ष्मीलाल विद्याआश्रम में विशिष्ट-अतिथि के रूप में मात्र एक दिन के लिए आये थे, दूसरे दिन का वापिसी टिकिट भी साथ लाए थे। अधिक ठहरने का उनके पास समय ही कहाँ ? व्यापार के अलावा सामाजिक संस्थाओं वाले भी इन्हें पदों का प्रलोभन देकर उलझाये रहते हैं।

इन सबके बावजूद भी ज्ञानेश के एक घण्टे के भाषण से ही वे इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने समस्त आगामी कार्यक्रम निरस्त करके तथा अनुकूलताओं-प्रतिकूलताओं की परवाह न करके जो भी सुविधायें संभव थीं, उन्हीं में संतोष करके पूरे पन्द्रह दिन रुककर प्रवचनों का लाभ लेने का निश्चय कर लिया।

सेठ के साथ में आए प्रो. गुणधरलाल, विद्याभूषण और बुद्धिप्रकाश को सेठजी के इस आकस्मिक परिवर्तन पर आश्चर्य हो रहा था। वे परस्पर बातें कर रहे थे।

प्रो. गुणधर ने कहा - “सेठजी को अचानक यह क्या हो गया ? इतना बड़ा परिवर्तन ! जो घर से केवल कौतूहलवश एक दिन को आये थे, जिन्हें ऐसे तात्त्विक प्रवचनों में कोई खास रुचि नहीं थी, वे केवल एक घण्टे के प्रवचन से इतने अधिक प्रभावित हो गये हैं। ऐसा क्या जादू कर दिया सेठजी पर ज्ञानेशजी ने ?”

दूसरे वरिष्ठ विद्वान विद्याभूषण बोले - “अरे भाई ! ज्ञानेश के प्रवचनों में तो जादुई असर है ही, व्यवहार ही मधुर है और स्वभाव भी मिलनसार है। देखो न ! छोटे से छोटे बालकों और बड़े से बड़े विद्वानों

को कितने स्नेह और आदरपूर्वक बुलाते हैं, प्रेमालाप करते हैं, मानो करुणा और स्नेह की साक्षात् मूर्ति हों। प्रवचनों के बीच-बीच में श्रोताओं का नामोल्लेख करके सजग तो करते ही हैं, उन्हें महत्त्व देकर, उनमें अपनापन भी स्थापित कर लेते हैं। उनके सुख-दुःख में भागीदारी निभाते हैं।”

ज्ञानेश को सेठजी की धार्मिक अज्ञानता पर तरस तो आ ही रहा था; अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने प्रवचन के बीच में ही करुणा के स्वर में कहा - “अरे सेठ ! सत्तर-बहत्तर बसन्तों तो देख ही ली होंगी आपने? मनुष्य की जिन्दगी ही कितनी है ? अधिक से अधिक शतायु हुए तो बीस-पच्चीस वर्ष ही और मिलेंगे, भरोसा तो एक पल का भी नहीं है। मान लो दस-बीस वर्ष मिल भी गये तो वे भी ‘अर्द्धमृतक सम बूढ़ापनो’ में गुजरने वाले हैं। यदि तत्त्वज्ञान के बिना ही हमारा यह जीवन चला गया, यदि हम यह मानव जीवन पाकर भी धर्म नहीं समझ पाये; तो फिर हमें अगला जन्म कहाँ/किस योनि में लेना पड़ेगा, इसकी खबर है?”

दिन-रात भक्ष्य-अभक्ष्य खाते-पीते हमारे जो अशुभ भाव रहा करते हैं, उनका क्या फल होगा ? इस बात पर विचार किया कभी हमने ? यदि हम मरकर मच्छर बन गए तो हमारे बेटे ही हम पर डी.डी.टी छिड़ककर मार डालेंगे। यदि अपने घर की खाट में खटमल हो गए तो हमारे बेटे-बहू ही कैरोसीन छिड़ककर हमारी जान ले लेंगे। यदि कुत्ता-बिल्ली के पेट से पैदा हो गये तो नगरपालिकाओं द्वारा पकड़वाकर जंगल में छुड़वा दिये जायेंगे। यदि गाय-भैंस-बकरी आदि पशु हो गये तो क्या वहाँ रहने को एयरकंडीशन, मच्छरों से बचने को गुडनाइट और सोने के लिए डनलप के गद्दे मिलेंगे ? अरे ! खाने को मालिक जैसी सड़े-गले भूसे की सानी बनाकर रख देगा, वही तो खानी पड़ेगी, बेकार होने पर बुढ़ापे में बूचड़खाना भेज दिये जाओगे।

यदि ऊँट, बैल, गधा, घोड़ा हो जायेंगे तो शक्ति से भी कई गुना अधिक भार लाद कर जोता जायेगा; चलते नहीं बनेगा तो कोड़े पड़ेंगे, लातों-घूसों से मार पड़ेगी; जरा कल्पना करके तो देखें! जेठ माह की गर्मी, माघ माह की शीत और मूसलाधार बरसात में भूखे-प्यासे खुले आकाश में खड़े रहना पड़ेगा। सब कुछ चुपचाप सहना होगा। कहने-सुनने लायक जबान भी नहीं मिलेगी।

मछली, मुर्गी, सूअर, बकरा, हिरण जैसे दीन-हीन पशु हो गये तो मांसाहारियों द्वारा जिन्दा जलाकर भूनकर, काट-पीट कर खाया जायेगा।

यदि हम चारों गतियों के अनन्तकाल तक ऐसे अनन्त दुःख नहीं सहना चाहते हैं तो अपने भावों को पहचाने, वर्तमान परिणामों की परीक्षा करें और यह समाज की झूठी-सच्ची नेतागिरी, यह न्याय-अन्याय से कमाया धन, ये स्वार्थ के सगे कुटुम्ब परिवार के लोग कहाँ तक साथ देंगे? इस ओर भी थोड़ा विचार करें।

क्या सम्राट सिकन्दर के बारे में नहीं सुना? उसने अनेक देशों को लूट-खसोटकर अरबों की सम्पत्ति अपने कब्जे में कर ली थी। अन्त में जब उसे पता चला कि मौत का पैगाम आ गया है, तब उसे अपने किए पापों से आत्मग्लानि हुई।

वह सोचने लगा - 'अरे! मैंने यह क्या किया? तब उसने स्वयं कहा कि - "मेरी अर्जित सम्पत्ति मेरी अर्थी के आगे पीछे प्रदर्शित करते हुए मेरी अर्थी के साथ ले जाना और मेरे मुर्दा शरीर के दोनों हाथ बाहर निकाल देना, ताकि जगत मेरे जनाजे से मेरी खोटी करनी के खोटे नतीजे से कुछ सबक सीख सके।'

उसकी अन्तिम इच्छा के अनुसार संसार की असारता और लूट-खसोट के दुःखद नतीजों का ज्ञान कराने के उद्देश्य से उसकी शवयात्रा के साथ सारा लूट का माल जुलूस के रूप में पीछे लगा दिया गया और

उसके दोनों खाली हाथ अर्थी के बाहर निकाल दिये गये। एक फकीर साथ-साथ गाता जा रहा था -

सिकन्दर बादशाह जाता, सभी हाली मवाली हैं।

सभी है साथ में दौलत, मगर दो हाथ खाली हैं।।''

ज्ञानेशजी का प्रवचन सुनकर तो सेठ साहब गद्गद् हो गए। सेठ ही क्या, उस समय तो सभी की आँखे गीली हो गईं। लोग रूमाल निकाल-निकाल कर अपनी आँखें पोंछने लगे।

विद्याभूषण ने कहा - "भाई मैं तो रुकूँगा ही और मैं तो कहूँगा कि तुम भी रुको। इतना सुनने-समझने के बाद किस मायाजाल में फँसे हो?"

यद्यपि ज्ञानेश संस्कृत-प्राकृत नहीं जानता था, परन्तु उसने सत्यान्वेषण में कोई कोर-कसर नहीं रखी। आध्यात्मिक ज्ञानगंगा में गहरे गोते लगाये; क्योंकि उसने लक्ष्य बनाया था, दृढ़ संकल्प किया था कि मैं सत्य की शोध करके ही रहूँगा और इसका लाभ मुझे तो मिलेगा ही, जन-जन तक भी मैं इस ज्ञानगंगा को पहुँचाऊँगा।

उसने हारकर भी हारना नहीं सीखा। उसने इतिहास में पढ़ा था कि मोहम्मद गौरी पृथ्वीराज चौहान से एक बार नहीं, दो बार नहीं, तीन बार नहीं; पूरे सत्रह बार हारा फिर भी उसने हार नहीं मानी। यदि वह सत्रह बार में कहीं एक बार भी हारकर बैठ जाता तो उसकी अठारहवीं बार की जीत उसकी विजय का इतिहास नहीं बन पाती। अठारह वीं बार की जीत ने सत्तरह बार की हार को भी अविस्मरणीय इतिहास बना दिया।

ज्ञानेश यह भी जानता था कि अत्यन्त साधारण से परिवार में एवं छोटे से गाँव में जन्मे अब्राहमलिकन ने अपने जीवन में क्या-क्या मुसीबते नहीं झेलीं? मानो वह भी हार का पर्याय बन गया था, अनेक

बार हारा; पर निराश नहीं हुआ; क्योंकि उसका एक स्वप्न था, एक लक्ष्य था कि 'मैं एक न एक दिन सर्वोच्च सत्ता हासिल करके ही रहूँगा। फलस्वरूप वह अन्त में अमेरिका जैसे समृद्ध और विकसित देश का राष्ट्रपति बना।

ज्ञानेश ने भी इन घटनाओं से प्रेरणा पाकर वर्तमान में समय की स्वतंत्रता और तत्त्व प्रचार-प्रसार हेतु आर्थिक स्वतंत्रता के साथ परलोक में आत्मा की स्वतंत्रता (मुक्ति) पाने का लक्ष्य बनाया है और वह इस दिशा में पूर्ण उत्साह के साथ सक्रिय है। उसे विश्वास है कि मैं अपने लक्ष्य को पाकर ही रहूँगा।

प्रथम लक्ष्य के करीब तो वह पहुँच चुका है और दूसरे एवं तीसरे लक्ष्य की ओर अग्रसर है। उसने कहीं यह पंक्ति पढ़ी थी - नर हो न निराश करो मन को।

बस, फिर क्या था, वह दृढ़ संकल्प के साथ जुटा रहा और अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता रहा।

-- -- --

यह छोटी-सी ज्ञानगोष्ठी एक दिन इतना विशाल रूप धारण कर लेगी, ज्ञानेश को भी इसका पता नहीं था, पर उसका एक स्वप्न था, एक लक्ष्य था कि यह ज्ञान की धारा सारे विश्व में फैलना चाहिए।

उसने मोहम्मदगौरी और अब्राहमलिनकन के इतिहास से यही सीखा कि हार में भी जीत छिपी होती है। अतः हारने से निराश नहीं होना चाहिए। बस इसी विचार से ज्ञानेश अपने लक्ष्य के प्रति सजग है। क्या ज्ञानेश के सामने समस्याएँ नहीं आती? पर उसके सामने भी एक लक्ष्य है। उस लक्ष्य के साथ उसकी हार्दिक लगन, व्यवस्थित मति, उदारवृत्ति, गुण-ग्राहकता, निश्चलहृदय, सरलस्वभाव, नियमित दैनिकचर्या,

सत्यान्वेषण की सूक्ष्मदृष्टि, दृढ़ संकल्प और प्राप्त ज्ञान के प्रचार-प्रसार की निःस्वार्थ पवित्र व प्रबल भावना है। इन्हीं कारणों से देश-विदेश के कोने-कोने से धर्मप्रेमी लोग उससे जुड़ते जा रहे हैं।”

-- -- --

टन....टनन...टन...टन.....करते ज्योंही घड़ी का नौवाँ घंटा बजा, त्योंही उँकार ध्वनि के साथ ज्ञानेश का प्रातःकालीन प्रवचन प्रारम्भ हो गया। “मन का शरीर से घना संबंध होने से यदि अन्दर में क्रोध भाव है तो मुखाकृति पर भी क्रोध की रेखाएँ दिखाई देने लगती हैं, भृकुटी तन जाती है, आँखें लाल हो जाती हैं, ओष्ठ फड़कने लगते हैं और काया काँपने लगती है। पर ध्यान रहे, पापबन्ध अंतरंग आत्मा में हुए क्रोध आदि मनोविकारों या भावों से ही होता है, बाह्य शारीरिक विकृति से नहीं। शारीरिक चिह्न तो मात्र अंतरंग भावों की अभिव्यक्ति करते हैं, उनसे पुण्य-पाप नहीं होता।

इसी तरह जब अन्तरंग में भगवान की भक्ति का शुभभाव होता है तो बाहर में तदनुकूल यथायोग्य अष्टांग नमस्कार आदि शारीरिक क्रियाएँ भी होती ही हैं।”

अंतरंग-बहिरंग सम्बन्ध का ज्ञान कराते हुए ज्ञानेश ने आगे कहा - “अन्तरंग में जिनके सम्पूर्ण समताभाव हो, वीतराग परिणति हो तो बाहर में उनकी मुद्रा परमशान्त ही दिखाई देगी। न हँसमुख न उदास। ऐसा ही सहज स्वतंत्र संबंध होता है अन्तरंग-बहिरंग भावों का। इसलिए कहा जाता है कि ‘भावना भवनाशनी - भावना भववर्धनी’ भावों से ही संसार में जन्म-मरण के दुःख का नाश होता है और भावों से ही जन्म-मरण का दुःख बढ़ता है।

इसीप्रकार पूर्ण पवित्र भावना से पूर्ण सावधानीपूर्वक डॉक्टर के द्वारा रोगी को बचाने के प्रयत्नों के बावजूद यदि आपरेशन की टेबल पर ही रोगी का प्राणांत हो जाता है तो डॉक्टर को हिंसाजनित पापबंध नहीं होता। वैसे ही चार हाथ आगे जमीन देखते हुए चलने पर भी यदि पैर के नीचे कोई सूक्ष्म जीव मर जाता है तो मारने का अभिप्राय नहीं होने से साधु को भी हिंसा का पाप नहीं लगता।

वस्तुतः आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है तथा आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति न होना ही अहिंसा है। तात्पर्य यह है कि पाप-पुण्य एवं धर्म-अधर्म जीवों के भावों पर निर्भर करता है। जिन कार्यों में जैसी भावनार्यें जुड़ी होंगी, कर्मफल उनके अनुसार ही प्राप्त होगा। हिंसा की भाँति झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह आदि पापों एवं धर्म-अधर्म के विषय में भी समझ लेना चाहिए। आत्मा के घातक होने से झूठ-चोरी-कुशील व परिग्रह पाप भी हिंसा में ही गर्भित हैं। सब आत्मघाती होने से हिंसा के ही विविध रूप हैं; जोकि महादुःख दाता होने से सर्वथा त्याज्य हैं।”

समय भी लगभग हो ही चुका था। सभा विसर्जित हुई। सभी लोग भावुक हृदय से अपने-अपने निवास की ओर जाते हुए मार्ग में ज्ञानेश के प्रवचन की चर्चा एवं प्रशंसा करते जा रहे थे।



पश्चात्ताप भी पाप है

रात के सात बजने को थे कि ज्ञानेशजी अपने निश्चित समय के अनुसार चर्चा करने अपने आसन पर जाकर बैठ गये। सात बजते-बजते सब श्रोता भी आ गये और जिसे जहाँ जगह मिली, चुपचाप बैठ गये।

ज्ञानेशजी ने मोहन को आगे बुलाया तो वहाँ बैठे सभी व्यक्तियों की निगाहें प्रश्नसूचक मुद्रा में मोहन की ओर मुड़ गईं, पर कहा किसी ने कुछ नहीं; क्योंकि सबको उसके प्रति सहानुभूति तो थी ही, ज्ञानेशजी के प्रति भी ऐसी श्रद्धा थी कि ज्ञानेशजी जो भी करेंगे, ठीक ही करेंगे।

उन्हें यह भी पता हो गया था कि ज्ञानेशजी ने मोहन को अभी-अभी जीवन-दान दिया है, मौत के मुँह से बचाया है। ज्ञानेशजी से सहानुभूति एवं स्नेह पाकर मोहन मानो कृतार्थ हो गया था। वह आगे आकर चुपचाप नीची निगाहें करके सहमा-सहमा सा बैठ गया। दो मिनट तक जब कहीं से कोई प्रश्न नहीं पूछा गया तो ज्ञानेशजी के चित्त में जो चिन्तन चल रहा था, उसे ही चर्चित करने के लिए मोहन के चिन्ताग्रस्त चेहरे को प्रकरण का मुद्दा बनाकर उसने कहा -

“मोहन ! तुम्हारे मुख-मण्डल पर जो रेखायें हम देख रहे हैं, वे रेखायें तुम्हारे मनोगत भावों को बता रहीं हैं कि तुम इस समय किस भाव में विचर रहे हो ? तुम्हारा मनोगत भाव तुम्हारे चेहरे पर स्पष्ट झलक रहा है। निश्चित ही तुम्हारा मानसिक सोच किसी कषाय के कुचक्र में फंसा है, राग-द्वेष के जंजाल में उलझा है, मोह-माया से मलिन हो रहा है अथवा कहीं किसी संयोग-वियोग की आशंका की

आँधी में किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहा है। जानते हो इस मानसिकसोच के रूप में तुम्हें यह कौन-सा 'ध्यान' हो रहा है? और इसका क्या फल होगा?"

ज्ञानेशजी की बातें सुनकर मोहन स्तब्ध रह गया। उसने मन ही मन सोचा - "ध्यान? मैंने तो आज तक कभी कोई ध्यान किया ही नहीं, मुझे ध्यान करना आता ही कहाँ है? मैंने कभी ध्यान करने का सोचा भी नहीं। ध्यान करना तो साधु-संतों का काम है। पिता के निधन के बाद मुझे तो दिन-रात घी, नमक, तेल, तंदुल और परिवार की चिन्ता में धर्म ध्यान करने की बात सोचने की भी फुर्सत नहीं मिली। क्या चिन्ता-फिकर करना भी कोई ध्यान हो सकता है? मेरे माथे पर चिन्ता की रेखाएँ हो सकती हैं, पर माथे की उन लकीरों में ऐसा क्या लिखा है जो ज्ञानेशजी ने पढ़ लिया है? मैंने तो इस विषय में किसी से कुछ कहा भी नहीं है। ये अन्तर्यामी कब से बन गये?"

मोहन की चिन्तित मुद्रा को देख ज्ञानेशजी ने पुनः कहा - "मैं समझ गया कि तुम क्या सोच रहे हो? किस चिन्ता में घुल रहे हो? मोहन तुम दुर्व्यसनों से तो मुक्त हो गये; पर पश्चात्ताप की ज्वाला में अभी भी जल रहे हो। तुम्हें पता नहीं, ये पश्चात्ताप की ज्वाला में जलती भावना भी तुम्हें इस दुःखद संसार सागर से पार नहीं होने देगी। इसे शास्त्रों में आर्तध्यान कहते हैं।"

एक श्रोता ने पूछा - "क्या ध्यान भी कई तरह के होते हैं?"

ज्ञानेश ने उत्तर दिया - "हाँ, मन में जो दूसरों के बुरा करने के या भोग के भाव होते हैं, ये अशुभ भाव खोटे आर्तध्यान हैं।

देखो! यद्यपि बाहर में प्रगट पाप करने से पत्नी रोकती है, माता-पिता समझाते हैं, पुत्र-पुत्रियों का राग पाप न करने की परोक्ष प्रेरणा देता रहता है।

60

काया से यदि कोई पाप करता है तो सरकार भी दण्ड देती है, यदि वाणी से कोई पाप करता है तो समाज उसका बहिष्कार कर देती है; परन्तु यदि कोई भावों में पाप भाव रखे, दुःखी मन से पश्चात्ताप रूप आग की ज्वाला में जले तो उस पर किसी का वश नहीं चलता। उन पर तो धर्म उपदेश ही अंकुश लगा सकता है, जो हमें बताता है कि पाप भाव का फल कुगति है।"

इस तरह मोहन ज्ञानेश की चर्चा से पूरी तरह संतुष्ट था। उसे ऐसा लगा - सचमुच तो ये ही बातें सुनने जैसी हैं। यह सोचते हुए वह अपने अतीत में खो गया, अपने में अबतक हुई पाप परिणति का आत्म-निरीक्षण करने लगा।

ज्ञानेशजी ने मोहन को संबोधते हुए पुनः कहा - "अरे मोहन! कहाँ खो गये? क्या सोच रहे हो?"

संभलकर बैठते हुए मोहन ने कहा - "सचमुच हमारे तो दिन-रात पाप का ही चिन्तन चलता है, पाप की धुन में ही मग्न रहते हैं। धर्म ध्यान करना तो बहुत बड़ी बात है, हम तो धर्म ध्यान की परिभाषा भी नहीं जानते। यही कारण है कि - कर की मालायें फेरते-फेरते युग बीत गया; पर मन का फेर नहीं गया।

मैं आपसे क्या छिपाऊँ? आप तो मेरे सन्मार्गदर्शक हैं, मैंने अपने जीवन में बहुत पाप किये हैं। आपको ज्ञात हो या न हो; पर सच यह है कि मेरे दुर्व्यसनों के कारण मेरी पत्नी विजया तो जीवन भर परेशान रही ही, मेरी दोनों पुत्रियाँ धनश्री एवं रूपश्री भी सुखी नहीं रहीं। उनका भी सारा जीवन दुःखमय हो गया, बर्बाद हो गया।

उन्हें देख-देख मेरा मन आत्मग्लानि से इतना भर रहा है कि अब और कुछ करना-धरना सूझता ही नहीं है। धर्म-कर्म में भी मन बिल्कुल लगता ही नहीं है। उनके दुःख की कल्पना मात्र से मेरा रोम-रोम

रोमांचित हो जाता है, कलेजा काँप जाता है; अंग-अंग सिहर उठता है; आँखों से गंगा-जमुनी धारायें फूट पड़ती हैं। कुछ समझ में नहीं आता, अब मैं क्या करूँ? कहते-कहते मोहन का गला भर आया। वह आगे कुछ न बोल सका।

मोहन ने स्वयं को संभाल कर अपनी बात को जारी रखते हुए कहा - “ज्ञानेशजी ! मेरी कहानी बड़ी विचित्र है। आप तो मात्र इतना ही जानते हो कि - मैं आपके बालसखा धनेश का श्वसुर हूँ। संभवतः इससे आगे आपको कुछ भी पता नहीं है। कभी समय मिलने पर मैं आपको अपनी व्यथा-कथा कहकर अपने मन का बोझ कम करना चाहता हूँ। मैं अभी उस दुर्भाग्यपूर्ण कथा को कहकर आपका एवं इन जिज्ञासु जीवों का कीमती समय बर्बाद नहीं करना चाहता, पर क्या करूँ? कहे बिना रहा भी तो नहीं जाता। यदि आपकी आज्ञा हो तो.....”

ज्ञानेशजी ने सोचा - “इसके मन का बोझ कम करने के लिए इसके मन में उमड़ रहे मानसिक दुःख के बादलों को बरसने का समय तो देना ही होगा; अन्यथा अपनी चर्चा इसके माथे के ऊपर से ही निकल जावेगी, अतः भावनाओं का विरेचन तो होना ही चाहिए।”

ऐसा विचार कर ज्ञानेशजी ने कहा - “कहो, कहो, अवश्य कहो !”

मोहन ने सोचा - “सबके सामने कहने में संकोच कैसा? जब जगत के सामने पाप करने में संकोच नहीं किया तो जगत के सामने प्रायश्चित्त करने में संकोच क्यों ?”

ऐसा निश्चय करके वह बोला - “ज्ञानेशजी ! जवानी के जोश में व्यक्ति होश खो बैठता है। ऊपर से यदि आर्थिक अनुकूलता मिल जाए तब तो फिर कहना ही क्या है ?

मेरे पिताजी बहुत बड़े व्यापारी तो थे ही, जमीन-जायदाद भी

61

उनके पास बहुत थी। खेती से, साहूकारी से और व्यापार से अनाप-शनाप आमदनी थी उन्हें। सारे काम-काज तो उनकी देख-रेख मुनीम-गुमाशते और नौकर-चाकर ही करते थे। पिताजी का पुण्यप्रताप ऐसा था कि उनके प्रभाव से बड़े-बड़े बुद्धिमान और बलवान व्यक्ति उनकी सेवा में सदैव तैयार रहते और उनके इशारों पर दौड़-दौड़ कर काम करते। आज्ञा उल्लंघन करने की तो किसी की हिम्मत ही नहीं थी।

सामाजिक कार्यों में तो वे सिरमौर थे ही, राजनीति में भी थोड़ा-बहुत दखल रखते थे। इन सब कारणों से मेरा बचपन तो एक राजकुमार की तरह ठाठ-बाट से बीता ही, युवा होने पर भी मैंने कोई जिम्मेदारी महसूस नहीं की। मतलबी मित्रों के चक्कर में आ जाने से मदिरापान जैसे दुर्व्यसनों में फंस गया। बस, फिर क्या था ? दिन-रात अपने दोस्तों के साथ राग-रंग और मौज-मस्ती में समय बीतने लगा। बस, ऐसे में ही मेरा विवाह हो गया।

दुर्भाग्य से कुछ समय बाद ही पिताजी परलोक सिधार गये। पिता की मृत्यु से माँ अर्द्धविक्षिप्त-सी हो गई। मेरी विषयासक्त प्रवृत्ति एवं लापरवाही का लाभ उठाकर धीरे-धीरे जमीन जोतनेवाले किसानों ने जमीन हड़प ली। साहूकारी मुनीम-गुमाशतों ने अपने-अपने हस्तगत कर ली। उचित देखभाल के अभाव में व्यापार उद्योग ठप्प हो गया। लेन-देन के चक्कर में धोखाधड़ी के झूठे आरोपों में मुझे दो वर्ष की जेल हो गई। ऐसे भावों के फलस्वरूप एक ही झकोरे में सब कुछ मिट्टी में मिल गया। पत्नी एवं पुत्र -पुत्रियाँ अनाथ हो गये। उनकी दुर्दशा की कल्पना मात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं।”

ज्ञानेशजी ने आश्वस्त करते हुए कहा - “देखो, जो हो गया वह तो हो ही गया, उसके पछताने से अब होगा क्या ? भूत की भूलों को भूल जाओ, वर्तमान को संभालो, भविष्य अपने आप संभल जायेगा।

ऐसे दुःखी होने से आर्तध्यान होता है, इससे भी पापबंध होता है। यह सब जो भी हुआ वह भी तो अपने पूर्व पाप के फल का ही परिणाम है, जो बोया है उसकी फसल तो उगेगी ही।

बोया पेड़ बबूल का। आम कहाँ से खाय? ॥

एक श्रोता ने विनम्र भाव से कहा - “भाई! आपके जीवन की इस घटना ने तो मानो पुराण-पुरुष राजा सत्यन्धर के इतिहास को ही दुहरा दिया है। रानी विजया के मोह में मूर्च्छित राजा सत्यन्धर के चरित्र पर टिप्पणी करते हुए पुराणकार ने ठीक ही लिखा है -

विषयासक्त-चित्तानां गुण को वा न नश्यति।

न वैदुष्यं न मानुष्यं, नाभिजात्यं न सत्यवाक् ॥

विषयों में आसक्त चित्तवालों में न विद्वता रहती है, न मनुष्यता रहती है, न बड़प्पन रहता है और न सत्यवचन ही रहते हैं।”

मोहन ने स्वीकार किया कि - “हाँ, भाई! आप बिल्कुल ठीक कहते हैं। जब एक-एक विषय में आसक्त प्राणी अपने प्राण गंवा देते हैं तो पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त प्राणियों का क्या कहना? इसका प्रत्यक्ष उदाहरण मैं आपके सामने हूँ। अतः अपना कल्याण चाहनेवालों को इन इन्द्रियों के विषयों से दूर ही रहना चाहिए।”

-- -- --

आज गोष्ठी का समय मोहन की बातचीत में ही पूरा हो गया; पर अधिकांश लोगों ने महसूस किया कि यह भी बहुत बड़ा काम हो गया। इस बात से मोहन के जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन तो आया ही, इनके प्रभाव में रहनेवाले और भी अनेक लोग लाभान्वित होंगे।



कुशल व्यापारी कौन

जो व्यक्ति निःस्वार्थ भाव से विश्वकल्याण की भावना भाता है, समस्त प्राणियों के सदैव सुखी रहने की कामना करता है, सबका भला चाहता है सबसे निःस्वार्थ धर्मवात्सल्य रखता है, प्राणीमात्र से मैत्री भाव रखता है।

जो सोचता है कि - मेरे मन में समस्त प्राणियों से मैत्री हो, गुणी जनों को देख प्रमोद भाव उमड़े, विरोधियों के प्रति समता भाव हो और दुखियों के प्रति दया भाव रहे तथा दूसरों का शोषण किए बिना अपना पोषण करूँ - ऐसी मंगलमय भावना रखनेवाले दूसरों के सुख के लिए जो भी मार्गदर्शन करते हैं, उससे दूसरों का लाभ तो होता ही है; स्वयं को भी पुण्य लाभ होता है और उस पुण्योदय से आजीविका आदि के लौकिक काम सहज ही सफल होते हैं। इसके विपरीत जो व्यक्ति येन-केन प्रकारेण केवल अपना स्वार्थ साधने की ही सोचता है, वह पाप का ही अर्जन करता है। इस बात को निम्नांकित उदाहरण से समझा जा सकता है -

वैद्य मनीराम को दैवयोग से एक ऐसी संजीवनी औषधि उपलब्ध हो गई, जिससे मरणासन्न व्यक्ति भी अल्पकाल में पूर्ण स्वस्थ हो जाता है। इस अनुपम उपलब्धि की वैद्यजी को बहुत खुशी है। इस खुशी के दो कारण हो सकते हैं - एक तो यह कि “अब

मैं इस औषधि के द्वारा रोगियों को निरोग करके उनके दुःख को दूर कर सकूँगा, मरणासन्न व्यक्तियों को जीवनदान देकर उनका भला कर सकूँगा। मैं इस औषधि से जन-जन का उपचार करके अपने जीवन को धन्य कर लूँगा। मैं इसे धनार्जन का प्रमुख साधन नहीं बनाऊँगा। निर्धनों से कम से कम कीमत लेकर भ्रामरी वृत्ति से ही उनका उपचार करूँगा। जैसे भौरा फूल को नुकसान पहुँचाये बिना ही उसका रस पीता है, मैं भी मरीज का शोषण किए बिना ही उसका उपचार करूँगा।” ऐसी उज्ज्वल भावना से वह पैसा के साथ पुण्य भी अर्जित करता है।

दूसरा सोच यह भी हो सकता है कि “अब मेरे हाथ ऐसी निधि लगी है, जिस पर मेरा ही एकाधिकार है, अतः मैं इससे मनमाने पैसे वसूलकर लाखों रुपये कमा सकता हूँ और कुछ दिनों में ही करोड़पति बन सकता हूँ। फिर क्या है, एक बड़ी-सी कोठी होगी, बड़ी-बड़ी गाड़ियाँ होंगी। नौकर-चाकर होंगे।

थोड़े से प्रचार करने की जरूरत है; फिर जिसे निरोग होना होगा, जान बचानी होगी; मजबूरन उसे मेरे पास आना ही पड़ेगा और जो मनमानी कीमत मैं मागूँगा; उसे चुकानी ही पड़ेगी। अमीर तो देंगे ही; गरीब भी देंगे। भले कर्ज करके दें, पर देंगे; क्योंकि जान तो उनको प्यारी होती है न ? इसी उद्देश्य से तो लोग गुणकारी/ औषधीय वस्तुओं के पेटेन्ट कराकर अपना एकाधिकार सुरक्षित भी कराते हैं।”

ऐसे स्वार्थी व्यापारी लोग निष्ठुर विचारों से पाप कर्मों का बन्ध करते हैं, ऐसी खोटी भावना रखने से यह भी संभव है कि रोगी

63

उसकी बात पर विश्वास ही न करें और उपचार कराने आये ही नहीं; क्योंकि बुरे भावों का तो बुरा नतीजा ही होता है न ! इसप्रकार वह कभी करोड़पति बन ही नहीं सकेगा। उसका स्वप्न कभी साकार ही नहीं होगा। अतः परोपकार की भावना से ही काम करें। दूसरों का शोषण करके अपना पोषण न करें, बल्कि दूसरों के पोषण की पवित्र भावना रखें तो आपका पोषण तो सहज में होगा ही।

सफल व्यापारी की यही नीति होती है, और होनी चाहिए कि मुनाफे का प्रतिशत कम रखकर अधिक विक्रय करें, अधिक मुनाफा कमाने के प्रलोभन में बिक्री तो कम हो ही जाती है। धीरे-धीरे वह व्यक्ति या फर्म बदनाम भी हो जाता है, जिससे व्यापार ही फेल हो जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि निर्लोभी भावना से पुण्यार्जन के साथ धनार्जन भी गारण्टी से होता ही है। तथा लोभ की भावना से पापबन्ध होता है।

ज्ञानेशजी के ऐसे जनहित की भावना से ओत-प्रोत विचार सुनकर सभी श्रोताओं ने हार्दिक प्रसन्नता प्रगट की।

ज्ञानेशजी ने आगे कहा - “प्रत्येक बोल को विवेक की तराजू पर तौल-तौल कर ही बोलना चाहिए। जानते हो, बुद्धिमान और बुद्धु में क्या अन्तर है ? जो सोचकर बोलता है वह बुद्धिमान और जो बोलकर सोचता है वह बुद्धु।



अठारह

आर्तध्यान के विविध रूप

पवित्र उद्देश्य, निःस्वार्थ भाव और निश्छल मन से निकली पुण्यात्मा की आवाज सरलस्वभावी सजग श्रोताओं के मन को छुए बिना नहीं रहती।

ज्ञानेश ने जब अपने प्रवचन में आर्तध्यान के दुखद फल का सशक्त भाषा में वैराग्यवर्द्धक चित्रण प्रस्तुत किया तो अनेक लोगों की तो आँखें भर आईं। स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि श्रोताओं ने ज्ञानेश के मार्गदर्शन का अक्षरशः पालन करने का संकल्प कर लिया। सबसे अधिक धनेश, धनश्री, मोहन और रूपश्री प्रभावित हुए; क्योंकि ज्ञानेश के प्रवचन ने सबसे अधिक इन्हीं लोगों की दुखती रग को छुआ था, इन्हीं के हृदय पर गुजर रही स्थिति को उजागर किया था। इन्हें ऐसा लग रहा था कि मानो ज्ञानेश ने इनके हृदय में बैठकर इनके मनोभावों का ही चित्रण किया हो।

मोहन सोच रहा था - यह इष्ट वियोगज, अनिष्ट संयोजक नाम आर्तध्यान ऐसा राजरोग है, जो थोड़ा-बहुत तो सभी को होता है; पर हम जैसे अधर्मी और अज्ञानियों को तो यह बहुत बड़ा अभिशाप है, इससे कैसे बचा जाये ?

धनश्री तो अनिष्ट संयोजक आर्तध्यान की साक्षात् मूर्ति ही है। उसका अब तक का संपूर्ण जीवन इसी आर्तध्यान में बीता है। पिता मोहन के दुर्व्यसनी होने के कारण उसका बचपन जिन प्रतिकूल परिस्थितियों में बीता, जो-जो यातनायें उसे उन प्रतिकूल प्रसंगों में भोगनी पड़ीं, उन सबको चित्रित करता हुआ ज्ञानेश का प्रवचन सुनकर

उसकी आँखों के सामने वे सब दृश्य चलचित्र की भाँति आने-जाने लगे। उस समय धनश्री यह सोच रही थी कि - 'हाय ! इन भावों का फल क्या होगा ? इनसे छुटकारा कैसे मिले ?'

भरे यौवन में धनेश जैसे पियङ्गु पति को पाकर जिन अनिष्ट संयोगों के निमित्त से होने वाले आर्तध्यान के दुष्चक्र में वह फंस गई थी; वे दृश्य भी उसकी दृष्टिपथ से गुजरे बिना नहीं रहे। वह रात भर बिस्तर पर पड़ी-पड़ी अनिष्ट की आशंका से इतनी घबरा गई कि उसकी नींद ही गायब हो गई।

रूपश्री इष्ट वियोगज आर्तध्यान का मूर्तरूप थी। उसका तो अबतक का पूरे जीवन का हाल ही बेहाल रहा। ज्ञानेश के प्रवचन से उसके स्मृति-पटल पर वे सभी दुःखद दृश्य उभर आये। इन्हीं इष्टवियोग की परिकल्पनाओं से उसका बचपन बीता था और यौवन की सुखद कल्पनायें भी आकस्मिक हुई दुर्घटना से अनायास ही धूल में मिल गईं। उसके जीवन में घटित हुए वे एक-एक दृश्य उसकी आँखों के आगे भी आने-जाने लगे होंगे।

धनेश दुर्व्यसनों के कारण राज-रोगों से ऐसा घिर गया था कि दिन-रात पीड़ा से कराहता रहता। अब तो पीड़ा की कल्पना मात्र से चीखने-चिल्लाने लगता है। कल के प्रवचन में जब पीड़ा चिंतन आर्तध्यान के दुःखद दुष्परिणामों का चित्रण हुआ तो धनेश की दशा और भी अधिक खराब हो गई। वह तो गिड़-गिड़ा कर वहीं ज्ञानेश के चरणों से लिपट गया और उससे कहने लगा - 'इससे बचने का उपाय बताइए। आप जो कहेंगे, मैं सब कुछ करने को तैयार हूँ।'

इसीतरह मोहन का अब तक सारा समय निदान नामक आर्तध्यान में ही बीता था। ज्ञानेश के प्रवचनों से उसे भी अपनी इस भूल का पूरा-पूरा अहसास हो गया। उसकी आँखों के सामने भी वे सब दृश्य स्पष्ट

झलकने लगे, जिनमें उसने लौकिक कामनाओं से अपने धन-वैभव के अर्जन, संरक्षण एवं उसके उपभोग हेतु देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए पशु बलि जैसे क्रूर कर्म करने के नाना प्रयास किए थे, मित्रते माँगी थीं। उसे महसूस हो रहा था कि उसकी वे धार्मिक क्रियाएँ सकाम होने से, निष्काम न होने से निदान आर्तध्यान ही थीं। उनमें धर्म किंचित् भी नहीं था।

अधिकांश व्यक्ति अपनी समस्त शक्ति और समय मनुष्य पर्याय को सुखी और समृद्ध बनाने में ही झोंक देते हैं, यद्यपि वे जानते हैं कि हम जन्म के पहले भी थे और मरने के बाद भी अपनी-अपनी करनी के अनुसार ८४ लाख योनियाँ ही कहीं न कहीं रहेंगे; फिर भी यह नहीं सोचते कि यही जन्म सब कुछ नहीं है, अगले जन्म के लिए भी कुछ ऐसा करें ताकि कीड़े-मकोड़ों की योनि में न जाना पड़े। उन्हें नहीं मालूम कि लौकिक कामनाओं से किए गए पूजा-पाठ, जप-तप आदि सब निदान आर्तध्यान की कोटि में ही आते हैं।

ज्ञानेश के कल के प्रवचन में यह बात बहुत अच्छी तरह से स्पष्ट हो गई थी।

गीता के निष्काम कर्म करने के उल्लेख के साथ प्रवचन में तो यह भी आया था कि “धर्म के स्वरूप से अनभिज्ञ अज्ञानी की समस्त शुभाशुभ-भावनाएँ आर्तध्यान में ही मानी जावेंगी; क्योंकि मिथ्या मान्यता में धर्मध्यान तो होता ही नहीं है और ध्यान के बिना कोई रहता नहीं है; अतः अज्ञानी का शुभाशुभभाव निदान नामक आर्तध्यान ही है।”

इसीप्रकार और भी सभी श्रोता ऐसा ही महसूस कर रहे थे कि हमें भी आर्तध्यान ही हो रहा है। ज्ञानेश के प्रवचनों से प्रेरणा लेकर जिसने भी अपने अंदर झाँक कर देखा तो सभी को ऐसा लगा मानो वे हमारे हृदय की बात ही कह रहे हों। सभी को अपनी-अपनी भूल का अहसास

हो रहा था, अपने भावों की, परिणामों की पापमय परिणति स्पष्ट दिखाई दे रही थी।

65

ज्ञानेश ने अपने प्रवचन में कहा - “यदि इस आर्तध्यान से बचना है, धर्म ध्यान की भावना है तो उसके लिए तो पुण्य-पाप आदि का एवं आत्मा-परमात्मा का यथार्थ ज्ञान करना ही होगा।

निश्चय धर्मध्यान ज्ञानचेतना की वह अवस्था है, जहाँ समस्त शुभ विकल्प भी अस्त होकर एक आत्मानुभूति ही रह जाती है, विचार श्रृंखला रुक जाती है, चित्त की चंचलवृत्ति निश्चल हो जाती है, अखण्ड आत्मानुभूति में एकमात्र शुद्धात्मा का ही ध्यान रहता है।

इसप्रकार विचारों को आत्मकेन्द्रित किया जाना धर्मध्यान है। मुख्यतः विश्व की कारण-कार्य व्यवस्था, वस्तुस्वातंत्र्य जैसे सिद्धान्तों के सहारे अकर्तृत्व की भावना को दृढ़ करते हुए संसार, शरीर और भोगों से विरक्त करनेवाली चिन्तनधारा के माध्यम से जगत की क्षणभंगुरता को जानकर, जगत से उदास होने पर ही चंचल चित्तवृत्ति नियंत्रित की जा सकती है। इसी प्रक्रिया का नाम धर्मध्यान है।

जबतक पर-पदार्थों और अन्य जीवों में किसी भी प्रकार से परिवर्तन करने की अनधिकार चेष्टा रहेगी, तबतक मन की वृत्ति/प्रवृत्ति पर नियंत्रण संभव नहीं होगा।

हाँ, जब तक इस दिशा में पुरुषार्थ जाग्रत नहीं हो, तब तक ऐसे आत्म-सन्मुख पुरुषार्थ की पात्रता प्राप्त करने के लिए लौकिक सज्जनता, आजीविका के साधनों की शुद्धि और आहार-विहार में अहिंसक आचरण की भावना हो; क्योंकि ये ही धर्म का मूल स्रोत है।”

इसप्रकार ज्ञानेश के प्रभावशाली प्रवचनों को सुनकर सभी श्रोता अपने को धन्य अनुभव कर रहे थे।



उन्नीस

66

बहुत सा पाप पाप सा ही नहीं लगता

“हमने कभी सोचा भी नहीं होगा, वस्तुतः सामान्यरूप से कोई सोच भी नहीं सकता कि प्रतिदिन प्रातः आँखे खोलते ही हम जो न्यूज पेपर पढ़ने से अपनी दिनचर्या प्रारम्भ करते हैं, उसमें भी राग-द्वेष एवं हर्ष-विषाद होने से पापों का बन्ध होता है। पर वास्तविकता यह है कि हमारे प्रभात का प्रारम्भ – ऐसे ही अप्रयोजनभूत पाप भावों से होता है, जिनसे हमारे किसी लौकिक प्रयोजन की भी पूर्ति नहीं होती।

सामान्य जनमानस को बड़े-बड़े नेताओं के पारस्परिक संघर्ष से क्या लेना-देना है ? उन्हें क्या उपलब्धि होनेवाली है नेताओं की गतिविधियाँ जानने से?

अतः वे सोचते हैं – हम हर्ष-विषाद कर पाप-कर्म क्यों बाँधें ?

इसप्रकार यदि थोड़ा भी विवेक से काम लें तो हम बहुत-से व्यर्थ के पापों से बच सकते हैं और अपने जीवन को मंगलमय बना सकते हैं।

विचार कीजिए – बिस्तर छोड़ते ही सबसे पहले हमारे हाथों में समाचार-पत्र होता है; मुख्य समाचार पढ़ते ही हमारा मनमर्कट या तो हर्षित हो उछल-कूद करने लगता है या उदास होकर मुँह लटका लेता है, खेदखिन्न हो जाता है। उस समय मन में जो हर्ष-विषादरूप नानाप्रकार के संकल्प-विकल्प होते हैं, उनमें हर्ष के भाव रौद्रध्यान और विषाद के भाव आर्तध्यान की कोटि में आते हैं; जो कि पूर्णरूप से पापभाव हैं।”

इसप्रकार अपने दैनिक जीवन के परिप्रेक्ष्य में रौद्रध्यान की चर्चा करते हुए ज्ञानेश ने आगे कहा – “हमें स्वयं का ही पता नहीं है कि हम कितने गहन अंधकार में हैं। बहुत सारे पापभाव तो हमें पाप से ही नहीं लगते। घर में सब परिजन-पुरजन जब एकसाथ बैठकर बड़े प्रेम से

टी.वी. देखते हैं, पत्नी से प्रेमालाप करते हैं, बच्चों से बातें करते हुए उन्हें प्रसन्न देख-देख हम गौरवान्वित होते हैं और अपने घर-परिवार को आदर्श मानते हैं; तब यदि धर्म की दृष्टि से उस वातावरण की समीक्षा करें और परिणामों की परीक्षा करें, भावों का विश्लेषण करें तो पता चलेगा कि – क्या सचमुच उस समय हमें धर्म हो रहा है, पुण्यबंध हो रहा है या पापबंध हो रहा है ? निश्चित ही ये शुभ-अशुभ भाव होने से पुण्य एवं पाप परिणाम ही हैं और विषयानन्दी एवं परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान के भाव होने से पाप भाव ही हैं।

जो हिंसा में आनन्द मानता है, असत्य बोलने में आनन्द मानता है, चोरी, विषयसेवन और परिग्रह संग्रह करने में आनन्द मानता है, इनमें ही जिसका चित्त लिप्त रहता है, रमा रहता है, वह सब पापभाव रूप रौद्रध्यान है।”

ध्यान रहे – “आर्तध्यान की प्रकृति दुःखरूप है और रौद्रध्यान की आनंदरूप है।

कहो भाई धनेश ! तुम्हारा – ‘खाओ-पिओ और मौज करो’ वाला सिद्धान्त किस ध्यान की कोटि में आता है ?”

धनेश एकक्षण सोचकर बोला – “आपके कहे अनुसार तो ये परिणाम रौद्रध्यान रूप पापभाव ही हुए; क्योंकि खाओ-पिओ और मौज उड़ाओ वाली वृत्ति विषयों में आनन्द मानने रूप ही तो है।”

मुस्कराते हुए ज्ञानेश ने कहा – “वाह ! भाई वाह ! ! बात तो तुमने ध्यान से सुनी और समझी भी, इसके लिए तुम्हें धन्यवाद। भाई ! सारा जगत इन्हीं विषयों में और विषय-सामग्री के संग्रह करने में मगन है। किसी ने कभी यह सोचा ही नहीं कि हमारे इन परिणामों का फल क्या होगा ?

देखो भाई ! धर्म के अनुसार पुण्य-पाप व धर्म का मूल आधार तो

अपना भला-बुरा अभिप्राय एवं सही-गलत मान्यतायें ही हैं। इसीलिए कहा है कि - दूसरे के द्रव्य को छीन लेने या हड़प जाने का अभिप्राय, झूठ बोलने का अभिप्राय, दूसरों को मारने-पीटने व जान से मार डालने का अभिप्राय और यह सब करके खुश होना रौद्रध्यान ही है तथा छोटे-बड़े जीवों की विराधना में अनैतिक साधनों द्वारा परिग्रह के संग्रह में आनन्द मानना रौद्रध्यान है।

स्वयं या दूसरों के द्वारा किसी को पीड़ित किए जाने पर हर्षित होना एवं बदला लेने की भावना आदि भी रौद्रध्यान है।”

रौद्रध्यान की बाह्य पहचान बताते हुए ज्ञानेश ने कहा -

“क्रूर होना, मनोरंजन हेतु शिकार आदि के लिए हथियार रखना, हथियार चलाने की कला में निपुण होना, हिंसा की कथा सुनने में रुचि लेना, टेढ़ीभौंह, विकृतमुखाकृति, क्रोधादि में पसीना आने लगना, शरीर काँपना आदि तथा मर्मभेदी कठोर वचन बोलना, तिरस्कार करना, बाँधना, धमकाना-डराना, ताड़न करना, परस्त्री पर खोटी भावना से मर्यादा का उल्लंघन करना आदि रौद्रध्यान की बाह्य पहचान है। जो मुँह में तिनका रखने वाले भोले-भाले, दीन-हीन खरगोश एवं हिरणों जैसे मूक पशुओं को अपने हथियार का निशाना बनाकर प्रसन्न होते हैं; भालुओं, बन्दरों, सर्पों तथा तोतों, चिड़ियों आदि को बन्धन में डालकर अपना व दूसरों का मनोरंजन करते हुए उनसे आजीविका साधने की सोचते हैं; वे सब रौद्रध्यानी व्यक्ति हैं।”

और भी सुनो - “जिन लोगों को पशु-पक्षियों में मुर्गे, तीतर, भैंसे, बकरे, मेंढे, सांड और मनुष्यों को लड़ाने-भिड़ाने तथा लड़ते हुए प्राणियों को देखने, उन्हें लड़ने के लिए, प्रोत्साहित करने में आनन्द आता है, भले ही वह व्यापारिक दृष्टि से किया जाये अथवा मनोरंजन के लिए किया जाये; वह सब रौद्र ध्यान ही है। इनका फल नरक है।

यदि ये सब पाप नहीं होते तो साधु-संत इन सबका त्याग कर आत्मा-परमात्मा का ध्यान क्यों करते ?”

67

इतना समझाने के बाद टेस्ट लेने हेतु ज्ञानेश ने धनेश से पूछा - “बताओ ? मार-काट, लड़ाई-भिड़ाई और अश्लील साहित्य पढ़ने में रुचि लेना तथा जासूसी उपन्यास पढ़ना कौन-सा ध्यान है ?”

धनेश ने उत्तर दिया - “यह सब रौद्रध्यान ही है; क्योंकि रौद्रध्यानीयों को ही तो इसप्रकार के कार्यों में आनन्द आता है।”

ज्ञानेश ने पूछा - “बताओ धनेश! तुम प्रतिदिन प्रातः जो न्यूज पेपर पढ़कर चुनावों की हार-जीत पर रुष्ट-तुष्ट होते हो, हर्ष-विषाद करते हो, वह कौन-सा ध्यान है ?”

धनेश ने कहा - “हर्ष में रौद्र व विषाद में आर्तध्यान होता है।”

धनेश के उत्तर पर संतोष प्रगट करते हुए ज्ञानेश ने आगे कहा - “जैसी करनी वैसी भरनी की उक्ति के अनुसार ऐसे हिंसानंदी रौद्रध्यानीयों को इन परिणामों के फल में नियम से नरकगति मिलती है। जहाँ वे लम्बे काल तक लड़ते-भिड़ते रहेंगे तथा अन्य नारकी इनके देह के तिल के बराबर छोटे-छोटे टुकड़े करेंगे, जिससे इन्हें मरणान्तक पीड़ा तो होगी, पर मरेंगे नहीं।

जो आजीविका के लिए हिंसोत्पादक व्यवसाय, उद्योग-धंधे करके अधिक धन अर्जित कर प्रसन्न होते हैं, वे भी हिंसानन्दी रौद्रध्यानी ही हैं। मद्य-मांस-मधु, नशीली वस्तुओं का व्यापार आदि ऐसी अनेक चीजें हैं, जिनमें अनन्त जीव राशि की हिंसा अनिवार्य है। अधिक कमाई के प्रलोभन में पड़कर ऐसे निकृष्ट धंधों को करके खुश होना हिंसानंदी रौद्रध्यान है, जिसका फल नरक है। अतः हमें वही आजीविका चुननी है जिसके साधनों में शुद्धि हो, अधिक हिंसा न हो। शत-प्रतिशत हिंसा का बचाव करने पर भी उद्योगों में आटे में नमक

के बराबर हिंसा, झूठ आदि पापाचरण तो फिर भी होगा ही; परन्तु यदि कोई बुद्धिपूर्वक पापाचरण करे तब तो वह पापी ही नहीं महापापी है।

ध्यान रहे, सब अपनी-अपनी ही समीक्षा व समालोचना करें, दूसरों की टीका टिप्पणी टोकों, दूसरों का सन्मार्ग दर्शन करने के लिए तो पुराण ही पर्याप्त हैं।

चौर्यानन्दी रौद्रध्यान की सीमा में न केवल डाकू और चोर ही आते हैं, बल्कि वे सभी व्यापारी भी आते हैं जो अधिक पैसा कमाने के प्रलोभन में सोने-चाँदी, हीरे-जवाहरात की तस्करी कर तथा कर-चोरी करके उसकी सफलता पर प्रसन्न होते हैं।

इसके सिवाय विषय सामग्री का संकलन करके, चेतन (नौकर-चाकर)- अचेतन (भोग सामग्री) परिग्रह का संग्रह करके, आवश्यकता से अधिक भोगोपभोग सामग्री का संग्रह करके; उसके दर्शन और प्रदर्शन में उत्साहित होना विषयानन्दी या परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान है।

-- -- --

अज्ञान अन्धकार में पड़े सभी श्रोताओं के लिए ज्ञानेश सम्यग्ज्ञान सूर्य साबित हो रहा था। आज उसने जो-जो आर्त-रौद्र ध्यान पर प्रकाश डाला था; उस प्रकाशपुंज से श्रोताओं के हृदय कमल की कली-कली खिल उठी थी। सभी श्रोता प्रवचन की विषयवस्तु पर विचार करने के लिए विवश थे।

घरों की ओर जाते हुए रास्ते में जहाँ देखो वहीं झुण्डों में खड़े लोग प्रवचन में चर्चित विषय की ही चर्चा करते दिखाई दे रहे थे।

अपने समूह में खड़ा एक कह रहा था - “देखो ! हम अपना मनोविनोद करने के लिए किसी भी व्यक्ति को अपने वचन बाण का लक्ष्य बनाकर उसकी मजाक उड़ाया करते हैं, किसी की टीका-टिप्पणी

68

किया करते, किसी को बुरी आदतों के लिए कोसते रहे। चाहे जिसको अपनी चर्चा का विषय बनाकर उसकी बुराई-भलाई किया करते और ऐसा करके खुश होते रहते। अभी तक हमने ये सोचा नहीं कि इनसे भी पापबंध होता है। अन्यथा हम ऐसा क्यों करते ? अब हम संकल्प करते हैं कि एक-एक बात सोच-समझकर किया करेंगे, ताकि कम से कम व्यर्थ के पाप से तो बचे रहें।”

समूह में खड़े सभी लोग उसकी बातें ध्यान से सुन रहे थे और सिर हिलाकर स्वीकार कर रहे थे कि तुम बिल्कुल ठीक कह रहे हो।”

इसतरह ज्ञानेश की धर्माभूत वर्षा से भीगे सभी श्रोताओं ने इन पाप भावों से बचे रहने का मन में दृढ़ संकल्प कर लिया।

हृदयतंत्री को झंकृत कर देनेवाले पापभावरूप आर्तध्यान एवं रौद्रध्यान पर हुए ज्ञानेश के प्रवचनों ने श्रोताओं पर तो अमिट छाप छोड़ी ही, मेरे और मुझ जैसे अनेक नास्तिकों के हृदयों को भी हिला दिया है। अनेकों व्यक्तियों ने अहिंसा का मार्ग अपना लिया है, व्यापार में अन्याय-अनीति और शोषण की प्रवृत्ति से और हिंसाजनक खान-पान एवं अभक्ष्य-भक्षण से मुख मोड़ लिया है।

ज्ञानेश के निमित्त से इतना बड़ा परिवर्तन ! निश्चय ही यह एक चमत्कारिक काम है। इसके लिए उनकी जितनी प्रशंसा की जाये, कम है।

धनेश मन ही मन सोचता है - “यह सब यों ही अंधभक्ति से नहीं हो रहा है। ज्ञानेश धर्म का मर्म खोलने और धर्म संबंधी मिथ्या मान्यता के भ्रम को मेटने में माहिर भी है। यद्यपि मेरी बुद्धि में अभी तक उसकी ये आध्यात्मिक बातें पूरी तरह बैठ नहीं पाईं, पर यह मेरी ही कमजोरी है, जिसे मुझे स्वयं दूर करना होगा।

जब ज्ञानेश ने चौबीसों घण्टे हो रहे आर्त-रौद्र परिणामों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया तो अधिकांश लोगों के तो रोंगटे खड़े हो गये।

एक ने कहा - “हमने ये तो यह सोचा ही नहीं कि न्यूजपेपर पढ़ने में भी पाप होता है, रोने-बिलखने में, प्रलाप करने में भी कोई पाप होता है। यह तो अब पता चला कि इस तरह विषयों में आनन्द मानने या रोने-धोने, हर्ष-विषाद करने से जो परिणाम संक्लेशमय होते हैं, वही परिग्रहानन्दी या विषयानन्दी रौद्रध्यान है, जिसका फल दुःख है।

दूसरा बोला - “अब क्या करें ? कैसे बचें इन पाप भावों से? अबतक पता नहीं था, सो अनजाने में जो हुआ वह तो ठीक पर अब तो जानबूझकर मक्खी नहीं निगली जा सकती।”

वैसे तो थोड़े-बहुत सभी प्रभावित थे; पर उद्योगपति सेठ लक्ष्मीलाल, भूतपूर्व जागीरदार मोहन, पढ़ा-लिखा एम.बी.ए. धनेश और ब्रह्मचारी लोभानन्द विशेष प्रभाव में थे। आज वे सात बजे के बजाय पौने सात बजे ही ज्ञानगोष्ठी के कार्यक्रम में आ बैठे थे। सभी मौन और चिंतन की मुद्रा में बैठे थे। ऐसा लगता था, मानो ये लोग कल के रौद्रध्यान पर हुए प्रवचन से आतंकित होकर सोच रहे हैं कि गुरुजी के बताये अनुसार तो हममें ऐसा एक भी नहीं है, जिसे किसी न किसी रूप में यह खोटा रौद्रध्यान न होता हो।

कुछ उद्योग-धंधों से जुड़े हैं, तो कुछ मनोरंजन से जुड़े हैं। ऐसे भी बहुत हैं जो अपनी आदतों से मजबूर होकर बिना प्रयोजन ही रौद्रध्यान करते हैं।

सेठ लक्ष्मीलाल गोष्ठी में चिंतन मुद्रा में बैठे-बैठे कल के प्रवचन के बारे में सोच रहे थे - “ज्ञानेश ने मेरी तो आँखे ही खोल दी हैं। मैं तो ऐसा विषयान्ध रहा हूँ कि भोगोपभोग-सामग्री को अर्जित करने और उसका उपभोग करने के सिवाय मुझे और कुछ दीखता ही नहीं था।

दिन-रात इसी एक ही उधेड़बुन में लगा रहा कि - न्याय-अन्याय से, झूठ-सच बोलकर - जैसे भी संभव हो, अधिक से अधिक धन संग्रह करना और यश कमाने व सुख-सुविधायें जुटाने में खर्च करना। इसके लिए तस्करि करनी पड़ी तो उसमें भी मैं पीछे नहीं रहा। हिंसा का सहारा भी मैंने लिया।

इसप्रकार मैंने तो सबसे अधिक पाँचों पापों में आनन्द मानने रूप हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी एवं परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान ही किया है। अब मेरा क्या होगा ? कैसे छुटकारा मिलेगा इन पापों से?”

इसी बीच ज्ञानेश ने सेठ लक्ष्मीलाल का ध्यान भंग करते हुए कहा - “कहो सेठ ! क्या सोच रहे हो ? कल की बात समझ में आई।”

सेठ लक्ष्मीलाल ज्ञानेश के मुख से अपना नाम सुनकर पहले तो सकपका गया फिर माथे का पसीना पोंछते हुए हाथ जोड़कर बोला - “गुरुजी ! आप बिल्कुल सत्य फरमाते हैं। मैं बैठा-बैठा यही सोच रहा था। आप तो ब्रह्मज्ञानी से लगते हैं। आपने मेरे मनोगत भावों को कैसे पहचान लिया ? कल के प्रवचन में तो आपने मेरे ही सारे पापों को हथैली पर रखे आँवले की भाँति उजागर करके मेरे ऊपर बड़ा उपकार किया है। मुझे ऐसा लग रहा था मानो मेरे लिए ही आपका पूरा प्रवचन हो रहा हो। अब आप मुझे इनसे बचने का भी कोई उपाय अवश्य बताइए। इसके लिए मैं आपका चिर-ऋणी रहूँगा।”

सेठ लक्ष्मीलाल की बात सुनकर मोहन में भी हिम्मत आ गई थी। उसने सोचा - “मैं भी क्यों न अपनी भूल को मेटने के लिए, अपने पापों का प्रायाश्चित्त करने के लिए ज्ञानेश के सामने अपने पेट का पाप कहकर हल्का हो जाऊँ? क्यों न अपने मन का बोझ कम कर लूँ?”

अबतक जो भाव हुए हैं, सो तो हुए ही हैं। इन्हें छिपाये रखने का

भाव भी तो एक अपराध ही है और फिर माता-पिता और गुरुजनों से तो कभी कुछ भी नहीं छिपाना चाहिए।”

यह विचार कर मोहन ने कहा - “मैं तो आपके उपकार से कृतार्थ ही हो गया हूँ। मुझे बचपन में शिकार खेलने का बहुत शौक था। क्या बताऊँ गुरुजी ? मैं थोड़े ही समय में ऐसा निशानेबाज बन गया था कि मुझसे एक भी निशाना नहीं चूका होगा। न जाने कितने मूक प्राणियों के प्राण लिए होंगे मैंने। मैं सचमुच बड़ा पापी हूँ।

घुड़सवारी तो ऐसी करता था कि घोड़ा भले ही दौड़ता-दौड़ता फैन डालने लगे, गिरे, पड़े या मरे - इसकी परवाह किए बिना मैं घण्टों घोड़े को दौड़ाता ही रहता। उसमें मुझे बहुत आनन्द आता था।

पशु-पक्षी लड़ाने में भी मुझे भारी मजा आता। भले ही चोंचे लड़ाते समय, माथे से माथा भिड़ाते समय, उनकी हड्डियाँ टूट जायें, मरणासन्न हो जायें; तो भी मैं उनकी परवाह किए बिना ही अपना भरपूर मनोरंजन किया करता। इसीतरह और क्या-क्या कहूँ? आपके सामने कहने में शर्म आती है; पर कहे बिना प्रायश्चित्त नहीं होगा, मेरा मन हल्का नहीं होगा। अतः कह रहा हूँ।”

“भाई ज्ञानेशजी ! मैं जवानी के जोश में होश खो बैठा था। रूपवती कन्याओं और कुलांगनाओं के शरीर का मनमाने ढंग से शोषण करना और उन्हें रोता-बिलखता छोड़ देना तो मेरे लिए मनोरंजन का कार्य था। जबतक जागीरदारी का प्रभाव रहा; तबतक मैंने ये पाप किये, मैंने यह सोचा है कि यदि इसी स्थिति में मरण हुआ तो नरक में जन्म लेकर अनन्त दुख भोगने का दण्ड भी मेरे लिए कम ही पड़ेगा।

आपने जो कुछ वर्णन किया, उससे मुझे ऐसा लगा; मानो आपने मेरे जीवन में झाँक कर ही कहा है। जब आप यह जानते हैं तो इनसे

70

छुटकारा दिलाने का उपाय भी जानते ही होंगे। वह भी बताइये न ! आप प्रायश्चित्तस्वरूप जो भी दण्ड देंगे, वह हमारे सिर माथे होगा। हम आपका यह उपकार कभी नहीं भूलेंगे।”

ज्ञानेश, सेठ लक्ष्मीलाल की एवं मोहन की पापपंक में आकंठ निमग्न जीवन गाथा को सुनकर बहुत दुखी हुआ। लम्बी सांस लेते हुए उसने कहा - “खैर ! कोई बात नहीं, पापी तो थोड़े-बहुत अंशों में सभी होते ही हैं। मिथ्यात्व के फल में यह नहीं होगा तो और क्या होगा ? पर तुम्हारे जीवन में पापाचरण की कुछ अति ही रही। अस्तु: जो भी हुआ, अब उसे तो भूलना ही होगा। भविष्य में पुनरावृत्ति न हो, एतदर्थ देव-गुरु के स्वरूप को समझकर तदनुसार आचरण करने की कोशिश करना। सब ठीक हो जायेगा।”

मोहन एवं सेठ लक्ष्मीलाल ने नतमस्तक हो ज्ञानेश की बातों को शिरोधार्य किया और अधिकतम समय ज्ञानेश के सान्निध्य में रहने का मन बना लिया।

वहीं ज्ञानगोष्ठी में बैठा एक वकील सोच रहा था - “हम वकील लोगों ने सच्चाई को झुठला-झुठला कर अपने व्यवसाय को बदनाम तो किया ही, उसके जरिए पाँचों पापों एवं सातों व्यसनों में लिप्त बड़े-बड़े अपराधियों को उचित दण्ड दिलाने के बजाय झूठी दलीले दे-देकर उन्हें दण्ड मुक्त करा कर बार-बार अपराध करने के लिए प्रोत्साहित ही किया है। उनसे बड़ी-बड़ी फीस के सौदे करके, लाखों रुपये लेकर लखपति बनने के स्वप्न साकार करने की कल्पनायें करके मन ही मन खूब प्रसन्न भी हुए हैं। इस तरह मैं पापियों को प्रोत्साहन देकर प्रसन्न हुआ हूँ। यह भी तो रौद्रध्यान है। सचमुच मैंने अपने जीवन का बहुभाग यों ही अनुचित और अशुद्ध साधनों से धनसंग्रह में बर्बाद कर दिया”

ऐसे विचार व्यक्त करके उस वकील ने भी अपने पापकर्मका प्रायाश्चित्त किया और भविष्य में ऐसे कर्म न करने का मन में संकल्प कर लिया।

सेठ लक्ष्मीलाल, मोहन एवं अन्य सभी श्रोता समवेत स्वर में बोले – हाँ, हाँ; गुरुजी ! हम सबकी लगभग यही स्थिति है।

वहीं बैठे एक नेताजी बोले – “हम ही क्या आज पूरा देश इसी स्थिति से गुजर रहा है, सभी इन्हीं आर्त और रौद्रध्यानो में ही आकंठ निमग्न हैं। यह बात जुदी है कि लोगों को यह पता नहीं है कि ये भाव इतने दुःखद एवं आत्मघातक हैं, नरक के कारण हैं। किसी ने इस दिशा में कभी सोचा ही नहीं, इसकारण सभी का यों ही जीवन व्यतीत हो रहा है। अब आपके सद्प्रयास से जब यह पता चल ही गया है तो अब इनसे बचने का मार्गदर्शन भी तो प्राप्त होना ही चाहिए। जो भी आप बतायेंगे, हम तो उससे लाभान्वित होंगे ही, हम इस बात को तन-मन-धन से जन-जन तक पहुँचाने का भी पूरा-पूरा प्रयास करेंगे।”

लोगों की रुचि एवं जिज्ञासा को ध्यान में रखते हुए ज्ञानेश ने सबको आश्वस्त किया – “भाई ! शास्त्रों में सबकुछ भरा पड़ा है, देखने की दृष्टि चाहिए तथा समझने के लिए थोड़े से समय की और तीव्र रुचि की आवश्यकता है। मैं भी कोशिश करूँगा और आप लोग भी थोड़ा-थोड़ा प्रयास करिए, कठिन कुछ भी नहीं है, असंभव भी कुछ नहीं है, दिशा बदलते ही दशा भी बदल जाती है। पुराने पापों का प्रायाश्चित्त करने और उनकी पुनरावृत्ति न करने से पाप पुण्य में भी बदल सकते हैं। आज यहीं तक, शेष कल।



ये तो सोचा ही नहीं

सूर्य चारों ओर से अपनी लाली समेटता द्रुतगति से अस्ताचल की ओर बढ़ रहा था। गोधूली का समय था, धूल उड़ाती हुई गायें अपने बछड़ों की याद में दौड़ी-दौड़ी घर की ओर बढ़ रही थीं।

सूर्यास्त के पूर्व भोजन से निवृत्त होकर दिनेश विद्याश्रम के अधिकांश भाई-बहिन टहलने जाया करते थे।

विद्याश्रम के विश्रान्तिग्रह में ही ठहरे धनश्री, रूपश्री, विजया, धनेश, सेठ लक्ष्मीलाल और मोहन साथ ही साथ प्रतिदिन घूमने-फिरने उपवन में जाया करते थे। वहाँ आधा-पौन घण्टा शान्त व एकान्त वातावरण में बैठकर ज्ञानेश के प्रवचन में आये महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर परस्पर चर्चा-वार्ता किया करते थे।

विगत दो दिनों से प्रवचनों में आर्त-रौद्रध्यान का स्वरूप एवं उनके दुष्परिणामों की दर्दभरी दास्तान सुनकर उनके पाँव तले की जमीन खिसकने लगी थी। उन सबकी आँखें तो पश्चात्ताप से झरते आंसुओं से गीली हो ही रही थीं, प्रत्येक का हृदय भी धड़कने लगा था। सभी के मन बोझिल हो रहे थे।

धनेश ने साहस करके मुँह खोला और बात प्रारम्भ करते हुए कहा – “देखो, इन आर्त-रौद्र जैसे खोटे भावों में हम लोग इस समय आकंठ निमग्न हो रहे हैं, भविष्य में इनसे बचने का उपाय और पिछले पापों से छुटकारा पाने की विधि तो खोजनी ही होगी; अन्यथा जब हाथ से बाजी निकल जायेगी, तब अन्त समय में क्या होगा ?”

इतना सुनते ही धनश्री का तो हाल ही बेहाल हो गया, रूपश्री भी फूट-फूटकर रो पड़ी।

सेठ लक्ष्मीलाल के मुँह से निकला - “अहो ! हमें तो इन बातों की खबर ही नहीं थी। हमने तो ये सब सोचा ही नहीं, हम तो पुण्यकर्मों के फल में प्राप्त विषय भोगों में ऐसे तन्मय हो गये हैं कि मानो हमें स्वर्गों की निधियाँ मिल गई हों; पर ये तो हमें नरक में पहुँचाने के साधन सिद्ध हो रहे हैं।

ये संपत्तियाँ तो चारों ओर से विपत्तियाँ बनकर हमारे माथे पर मधुमक्खियाँ-सी मंडरा रही हैं, जो डंक मार-मारकर मरणासन्न कर देंगी।

ज्ञानेशजी के कहे अनुसार इनसे बचने का एकमात्र उपाय सम्यग्ज्ञान के सागर में डूब जाना ही है; एतदर्थ उस ज्ञान के सागर को प्राप्त करने की पात्रता और विधि क्या है ? हमें यह जानना होगा अन्यथा ये विपत्तियाँ हमारा पीछा छोड़ने वाली नहीं हैं।”

धनेश ने भी सेठ लक्ष्मीलाल की हाँ में हाँ मिलाई। सबने निश्चय किया - “आज तो ज्ञानेश से इन पाप भावों से बचने के उपायों पर ही प्रवचन करने का निवेदन करेंगे।”

सेठ लक्ष्मीलाल ने ज्ञानेश से निवेदन किया - “आपने जो आर्त-रौद्र ध्यानों के बारे में विस्तार से विवेचन किया, तदनुसार तो हमारा पूरा परिवार इन पाप भावों में ही डूबा है। इनसे बचने का मार्गदर्शन करें।

ज्ञानेश ने कहा - “ऐसे भी बिजनिश हैं, जिसमें दूसरों को ऊपर उठाने से हम स्वयं ऊपर उठते जाते हैं। आप लोग जो भी धंधा करते हैं, उसका निरीक्षण करें यदि उसमें परोपकार करने के साथ स्वयं की आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है तो उसे ही करें; अन्यथा यदि संभव हो तो बिजनिश बदल लें। ऐसा कोई बिजनिश करें, जिसमें अहिंसक तरीके से अपनी न्याय-नीति की आजीविका के साथ दूसरों

का भी भला हो। ऐसा करने से आजीविका के साथ पुण्य लाभ भी हो सकता है।

सेठ लक्ष्मीलाल ने पुनः निवेदन किया - “धनेश, धनश्री एवं रूपश्री तो दिन-रात आँसू बहाया करती हैं। उन्हें भी आप इस पापपंक से पार होने का उपाय बताइए।”

ज्ञानेश ने सोचा - “इष्ट-अनिष्ट मिथ्या कल्पनायें हैं, इस कथन पर चर्चा करने से धनश्री एवं रूपश्री के मानस पर अनिष्ट संयोग एवं इष्ट वियोग से उत्पन्न हुए कष्टों के हरे-भरे घावों पर थोड़ी-बहुत मरहमपट्टी तो हो ही जायेगी। अतः पहले इष्ट-अनिष्ट की मान्यता कैसे मिटे - यह समझाना ही ठीक है।”

ऐसा विचार कर ज्ञानेश ने कहा - “मूलतः कोई भी वस्तु या व्यक्ति अपने आप में न इष्ट है न अनिष्ट है; क्योंकि जिनके राग-द्वेष समाप्त हो जाते हैं, उन सिद्ध भगवन्तों के शब्द-कोष में इष्ट-अनिष्ट शब्द ही नहीं होते। इसी से सिद्ध है कि - ये “इष्ट-अनिष्ट” शब्द मात्र राग-द्वेष की उपज है। मोह-राग-द्वेष के अभाव में इनका भी अस्तित्व नहीं रहता।

इष्टानिष्ट कल्पना व मोह-राग-द्वेष का परस्पर ऐसा घना संबंध है कि जहाँ मोह-राग-द्वेष होते हैं, वहाँ इष्ट-अनिष्ट कल्पना होती ही है और जहाँ इष्ट-अनिष्ट कल्पना होती है, वहाँ मोह-राग-द्वेष भी होते हैं।

तत्त्वज्ञान एवं वस्तुस्वरूप की समझ से जब परपदार्थ इष्ट व अनिष्ट भासित ही नहीं होते तो मुख्यतः राग-द्वेष व कषायें उत्पन्न ही नहीं होतीं। अपना कर्तव्य तो केवल तत्त्वाभ्यास करना और विश्वव्यवस्था और आत्मा-परमात्मा का स्वरूप समझना ही है। इसी के बल से आर्त-रौद्रध्यान का प्रभाव कम होते-होते क्रमशः अभाव होगा और धर्मध्यान का प्रारंभ होगा।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने लिखा है कि “कषाय-भाव पदार्थ के इष्ट-अनिष्ट मानने पर ही होते हैं और कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट हैं नहीं; अतः पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानना ही मिथ्या है। लोक में सर्व पदार्थ अपने-अपने स्वभाव के कर्ता हैं, कोई किसी को सुखदायक-दुःखदायक, उपकारी-अनुपकारी नहीं है। यह जीव ही अपने परिणामों में उन्हें सुखदायक-उपकारी मानकर इष्ट जानता है अथवा दुःखदायक-अनुपकारी जानकर अनिष्ट मानता है, क्योंकि एक ही पदार्थ किसी को इष्ट लगता है, किसी को अनिष्ट लगता है। जैसे वर्षा किसी को अच्छी इष्ट लगती है किसी को अनिष्ट।.....”

एक लोकोक्ति है कि -

माली चाहे बरसना, धोबी चाहे धुप्प।

साहू चाहे बोलना, चोर चाहे चुप्प।।

एक व्यक्ति को भी एक ही पदार्थ किसी काल में इष्ट लगता है, किसी काल में अनिष्ट लगता है तथा व्यक्ति जिसे मुख्यरूप से इष्ट मानता है, वह भी कभी अनिष्ट लगता है तथा जिसे मुख्यरूप से इष्ट मानता है, वह भी कभी अनिष्ट होता देखा जाता है। जैसे शरीर इष्ट हैं, परन्तु रोगादि सहित हो तो अनिष्ट हो जाता है। तथा जैसे मुख्यरूप से गाली अनिष्ट लगती है, परन्तु ससुराल में वही गाली इष्ट लगती है।

इसप्रकार पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपना नहीं है। यदि पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपना होता तो जो पदार्थ इष्ट है, वह सभी को इष्ट ही होना चाहिए और जो अनिष्ट है, वह सभी को अनिष्ट ही होना चाहिए; परन्तु ऐसा है नहीं। यह जीव कल्पना द्वारा उन्हें इष्ट-अनिष्ट मानता है सो यह कल्पना झूठी है।”

इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानकर उनमें राग-द्वेष करना मिथ्या है।

देखो, भाई ! दुःखी होने से काम नहीं चलेगा। प्रत्येक कार्य में सफलता प्राप्त करने की एक विधि होती है। उसे अपना पड़ेगा।

एतदर्थ प्रथम शास्त्र स्वाध्याय द्वारा अपने ज्ञान स्वभावी भगवान आत्मा के विषय में इतनी बातों का निश्चय करो कि “मैं कौन हूँ, मेरा क्या स्वरूप है ? फिर पर की प्रसिद्धि करने में हेतुभूत जो इन्द्रियाँ हैं, उन पर से अपने उपयोग को हटाकर आत्मसम्मुख करने का प्रयास करो। एतदर्थ पर के कर्ता-कर्म बनने के भार से निर्भार होना होगा, विश्व की कारण-कार्य व्यवस्था समझना होगी, यदि हम वस्तुस्वातंत्र्य का सिद्धान्त और कर्मसिद्धान्त में पुण्य-पाप मीमांसा को समझ लें तो धीरे-धीरे आर्तध्यान एवं रौद्रध्यान होगा ही नहीं।

यदि हमारा आत्मा-परमात्मा से सही अर्थों में परिचय हो जाय, उनसे प्रीति हो जाय तो वे बारम्बार हमारे ध्यान में आने लगेंगे। जिनसे हमारा घनिष्ठ परिचय और प्रीति हो जाती है, वे हमारे ध्यान में आये बिना नहीं रहते। अतः आत्मा-परमात्मा से परिचय करो, प्रीति स्वतः हो जायेगी और स्मरण होने लगेगा। यही रीति है धर्मध्यान करने की।

ज्ञानेश का यह धर्मध्यान पर हुआ सटीक प्रवचन सुनकर सबकी समझ में यह आ गया कि जब तक हम किसी विषय को जानेंगे/ पहचानेंगे नहीं, तब तक उसके प्रति प्रीति ही उत्पन्न नहीं होगी। प्रीति के बिना प्रतीति नहीं आयेगी, आत्म विश्वास नहीं होगा और आत्मविश्वास के बिना तो दुनिया में कोई भी काम करना संभव नहीं है, फिर धर्म-ध्यान कैसे हो सकेगा ? अतः सबने ज्ञानेशजी की बात का अनुकरण करने का मन बना ही लिया।



इक्कीस

74

करनी का फल तो भोगना ही होगा

एक दिन वह था, जब धनेश साधारण-सी शारीरिक पीड़ा को इतना अधिक तूल देता था, जिससे सारा घर परेशान हो जाता था। माथे में, पेट में, पीठ में, कहीं भी जरा-सी भी पीड़ा क्यों न हो जाए, हाथ-पैर-कमर आदि शरीर के किसी भी अंग में किसी भी प्रकार का किंचित् भी कष्ट क्यों न हो जाए, वह पूरे घर का खाना और सोना हराम कर देता था, पूरे मोहल्ले में हलचल मचा देता था, जमीन-आसमान एक कर देता था।

चीख-चीख कर कहता - “मैं सिर दर्द के कारण मरा जा रहा हूँ, पेट दर्द से मेरा बुरा हाल हो रहा है, सांस लेने में मेरे प्राण-से निकलते हैं; क्या करूँ ? कुछ समझ में नहीं आता; तुम्हें कैसे बताऊँ कि मुझे कितना भारी दर्द है। सारा शरीर ऐसा भनभना रहा है, मानो सौ-सौ बिच्छुओं ने एक साथ काट लिया हो।”

यद्यपि उसे कभी भी बिच्छू ने काटा नहीं था, जिससे सौ-सौ बिच्छुओं के काटने के दर्द की तुलना करता; पर अपनी पीड़ा को व्यक्त करने का उसके पास अन्य कोई उपाय भी तो नहीं था।

उसे पीड़ा से उतनी परेशानी नहीं थी, जितनी पीड़ा के भय से। पीड़ा का भय उसे अधिक परेशान करता था। मानवीय मनोविज्ञान के मुताबिक उसे धीरे-धीरे मन में अनुभव भी वैसा ही होने लगता था। जिस तरह बालक इन्जेक्शन लगाने के पहले ही जोर-जोर से रोने लगता है; जबकि अभी उसे सुई चुभने का दर्द नहीं हुआ, परन्तु वह उसके भय से भयभीत है।

वह कहता - “मुझसे दर्द सहा नहीं जा रहा है। जो भी उपाय करना हो, जल्दी करो। रामू कहाँ मर गया ? उससे कहो वैद्य को बुलाकर लाये, डॉक्टरों को भी फटाफट फोन कर दो, मन्त्र-तन्त्र वाले पण्डित को भी खबर तो कर ही दो, झाड़ने-फूँकने वाले को भी बुला लो। सबको अपने-अपने तजुबों का प्रयोग करने दो।”

माँ आश्चर्य मुद्रा में कहती - “सबको एकसाथ !”

धनेश कहता - “हाँ-हाँ, सबको एक ही साथ।...सबको एकसाथ बुलाने में अपना हर्ज ही क्या है ? फीस ही तो लगेगी। जबतक डॉक्टर लोग नहीं आ पाते, तबतक दादी अपने नुस्खे ही आजमा कर देख ले।”

सहानुभूति दिखाते हुए स्नेहवश पत्नी पैर दबाने लगती, माँ माथे पर हाथ फेरने लगती, दादा-दादी देवी-देवताओं से मनोतियाँ मनाने लगते, पिताजी परमात्मा से प्रार्थना करने लगते। डॉक्टरों को फोन कर दिये जाते, वैद्य बुलाने की व्यवस्था हो जाती; परन्तु दुःख तो पाप का फल है, वह तो स्वयं ही भुगतना पड़ता है।

जिसे खाने-पीने में भक्ष्य-अभक्ष्य का कोई विवेक नहीं, व्यापार में न्याय-नीति नहीं, धर्नाजन में साधन-शुद्धि की परवाह नहीं;” उसे इन पापों का फल भुगतना तो पड़ेगा ही, चाहे हंसकर भोगे या रोककर।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि - **रो-रो कर भुगतने से अति संक्लेश भाव होते हैं। उन भावों से पुनः पाप का बन्ध होता है, धनेश को इस बात का ज्ञान नहीं था।**

एक दिन पड़ौसी ने बड़ी उत्सुकता से चैकअप करने आये एक बड़े डॉक्टर से पूछा - “डॉक्टर साहब ! आये दिन क्या हो जाता है धनेश को, जो आप लोगों को रोज-रोज टाइम-बे-टाइम कष्ट उठाना पड़ता है ?”

डॉक्टर का उत्तर था - “अरे भाई ! फिलहाल बीमारी कुछ खास नहीं है, ओवरड्रिंकिंग और ओवरडाइट के कारण गैसेस टूबल हो जाती

है, उससे कभी सिरदर्द हो जाता है, कभी पेट में पीड़ा होने लगती है। कभी सीने में दर्द होने लगता है। पेट तो आखिर पेट ही है, जिसे पेट की परवाह नहीं, जिसे जीभ पर कंट्रोल नहीं, उसका तो आये दिन यही हाल होना है। कारण एक है, बीमारियाँ अनेक दिखती हैं। उन्हें यह सब बता दिया है, फिर भी आये दिन बिना वजह अनेक डॉक्टरों की भीड़ इकट्ठी कर लेते हैं। कौन समझाये इनको ? डॉक्टरों को क्या ? उनका तो धंधा है। फीस मिलती है सो दौड़े चले आते हैं।”

डॉक्टर ने आगे कहा - “मैंने तो साफ-साफ कह दिया - इस काम के लिए भविष्य में आप मुझे कभी फोन न करें। ये क्या खिलवाड़ है ? एक ओर बड़े-बड़े डॉक्टरों की लाइन लग रही है, दूसरी ओर वैद्य, हकीम, जंत्र-तंत्र-मंत्र और गण्डा ताबीज वाले, पण्डा-पुजारी सब एक साथ बिठा रखे हैं। बड़े आदमी के मायने यह तो नहीं कि चाहे जिसको लाइन में लगा दे। हर एक के अपने कुछ सिद्धान्त होते हैं, पैसा ही तो सब कुछ नहीं है।

और भी जिन चिकित्सकों में जरा भी स्वाभिमान था, उन्होंने भी आना बन्द कर दिया। धीरे-धीरे मुहल्ले के लोग भी समझने लगे कि “धनेश के यहाँ भीड़-भाड़ का कारण और कुछ नहीं, उसे दो-चार छींके आ गई होंगी।”

ज्ञानेश के सत्संग से हुए परिवर्तन के पूर्व यह इमेज थी धनेश की।

वही धनेश जब से ज्ञानेश के अन्तर-बाह्य व्यक्तित्व से प्रभावित हुआ, उसके सान्निध्य में रहकर स्वाध्याय और सत्संग करने लगा, तब से उसका जीवन ही बदल गया।

अब मरणतुल्य पीड़ा में भी वह मुँह से उफ तक नहीं निकालता। पास के पलंग पर सो रही अपनी पत्नी धनश्री को भी नहीं जगाता। जगाना तो बहुत दूर, उसे अपनी असह्य पीड़ा का पता तक नहीं चलने देता। अब उसकी बैचेनी को या तो वह जानता था या भगवान। कहाँ

से आ गई अनायास यह सहनशक्ति उसमें ? कैसे हुआ इतना भारी परिवर्तन ?

75

जब सारा शहर गहरी नींद में सो रहा होता, सड़कें सुनसान हो जातीं, सिपाहियों की सीटियों के सिवाय कहीं/कोई आवाज सुनाई नहीं देती, तब बीमार व्यक्तियों की दुख-दर्द भरी कराहने की आवाजें सम्पूर्ण वातावरण को करुण रस से भर देती हैं। अस्थमा से पीड़ित धनेश रात-भर सो नहीं पाता, फिर भी अब वह किसी को डिस्टर्ब नहीं करता। यद्यपि धनश्री देर रात तक जाग-जागकर पति के दुख में सहभागिनी बनने का पूरा-पूरा प्रयत्न करती, परन्तु शरीर तो आखिर शरीर ही है, जब वह थककर चूर-चूर हो जाती तो न चाहते हुए भी बैठे-बैठे ही उसे नींद आ ही जाती।

धनेश अब धनश्री को थोड़ा भी कष्ट नहीं देना चाहता था। अतः धनश्री के सो जाने पर वह उसे जगाता नहीं है; पर उसकी पीड़ा की कराहें कच्ची नींद में सोई धनश्री के कानों में टकराने से, उसकी दुःखभरी आहों और कराहों से वह स्वयं ही चौंक-चौंक पड़ती। वह जब भी आँख खोलकर देखती तो वह धनेश को तड़पता ही पाती।

कुछ गिरने के धमाके से जब धनश्री की नींद खुली और उसने उठकर देखा तो पानी का लोटा नीचे पड़ा था, पानी पलंग पर फैल गया था और धनेश पलंग पर औंधे मुँह पड़ा प्यास से तड़फ रहा था। वह सांस लेने में भी भारी कठिनाई अनुभव कर रहा था। घड़ी की ओर देखा तो उस समय तीन बज रहे थे।

धनश्री ने धनेश की पीठ सहलाते हुए पूछा - “तबियत कैसी है, क्या अभी तक नींद बिल्कुल भी नहीं आई ? जब नींद नहीं आ रही थी, बेचेनी बढ़ रही थी तो ऐसी स्थिति में उठे ही क्यों ? तुमने मुझे जगा क्यों नहीं लिया ?”

धनेश ने कहा - “मैंने यह सोच कर नहीं जगाया कि तुम्हें जगाने

से मेरी पीड़ा तो कम होगी नहीं। वह तो मुझे ही सहनी पड़ेगी। फिर तुम्हें व्यर्थ परेशान क्यों करूँ? कोई एक-दो दिन की बात तो है नहीं, तुम रात-रात भर जाग कर कबतक कितना साथ दे सकोगी? फिर तुम्हें दिन भर घर-बाहर का सब काम-काज भी तो करना पड़ता है। तुम्हारा शरीर भी कोई फौलाद का बना नहीं है। धनश्री! मैंने तुम्हें जीवन में दुःख के सिवाय और दिया ही क्या है?” कहते-कहते धनेश की आँखों में आसूँ छलक आये।

धनश्री ने कहा - “आप पुरानी बातों को याद कर-करके ये कैसी बातें करते हो? याद है उस दिन ज्ञानेशजी ने क्या कहा था? उन्होंने कहा था कि - जिसका करना चाहिए हमें स्मरण, हम उसका करते हैं विस्मरण; और जिसका करना चाहिए हमें विस्मरण, हम उसका करते हैं स्मरण; इसी कारण तो होता है संसार में परिभ्रमण।

सचमुच भूतकाल तो भूलने जैसा ही है; उसे याद करने से पश्चात्ताप और दुःख के सिवाय और मिलता ही क्या है? भूतकाल तो भगवान का भी भूलों से ही भरा था। हम तुम तो चीज ही क्या हैं उनके सामने? अतः भूतकाल में हुई भूलों के लिए रोना-धोना व्यर्थ ही है।

ज्ञानेश के प्रवचन में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह भी आई थी कि कोई अन्य व्यक्ति किसी को सुख-दुख का दाता है ही नहीं, अपना अज्ञान व राग-द्वेष से बांधे हुए पापकर्म ही अपने-अपने दुःख के विधाता हैं। अतः किसी अन्य को दोष देना व्यर्थ है।”

धनश्री की अमृत तुल्य ज्ञान की बातें सुनकर धनेश को ऐसा लगा मानो उसके हरे-भरे घावों पर किसी ने मरहम ही लगा दी हो। उसे थोड़ी देर के लिए अतीन्द्रिय आनन्द की सी अनुभूति हुई। फिर उसे विकल्प आया अभी रात के तीन बजे हैं, धनश्री को सो जाना चाहिए।

धनेश ने स्नेह भरे स्वर में कहा - “धनश्री! तुम सो जाओ। मुझे

मेरे हालातों पर छोड़ दो। मेरे पीछे तुम अपना स्वास्थ्य मत बिगाड़ो। अब तुम मेरे बजाय मेरे बेटे की देखभाल पर ध्यान दो। तुम्हारे सिवाय अब उसका है ही कौन? मेरे जीवन का तो कोई भरोसा नहीं है।

मेरी बुरी आदतों से यह शरीर तो बीमारियों का ही अड्डा बन गया है। सचमुच यदि ज्ञानेशजी का सान्निध्य नहीं मिला होता और आत्मा के स्वभाव का बल नहीं होता तो संभवतः मैं इस पीड़ा से बचने के लिए जहर खाकर कभी का चिरनिद्रा में सो गया होता।”

धनेश की बातें सुनकर धनश्री की आँखों में आँसू आ गये। आँसू पोंछती हुई बोली - “स्वामी! आप अपने मुँह पर मौत की बात लाते ही क्यों हो? ऐसा अशुभ सोचते ही क्यों हो? अभी आपकी उम्र ही क्या है? यह पाप का उदय भी चला जायेगा। मुझे विश्वास है कि आप शीघ्र स्वस्थ हो जायेंगे।”

धनेश ने कहा - “यह तुम नहीं, तुम्हारा राग बोल रहा है। ठीक है, तुम्हारी भावना सफल हो। यदि मुझे जीने की तमन्ना नहीं है तो मरने की जल्दी भी नहीं है। जबतक ज्ञानेश के सत्संग से यह आत्मकल्याणकारी धर्म की बात सुनने-समझने का एवं तत्त्वचिन्तन-मंथन करने का मौका मिल रहा है, अच्छा ही है; पर हमारे-तुम्हारे सोच के अनुसार कुछ नहीं होता। जो होना है, वह निश्चित है - अब मुझे इस पर पूर्ण आस्था हो गई है। पर इतना मैंने पक्का निश्चय कर लिया है कि अब मैं अपना शेष जीवन ज्ञानेश के सान्निध्य में ही बिताऊँगा। आज से वह मेरा मित्र ही नहीं, गुरु भी है।”

बात करते-करते धनेश को फिर दमा का दौरा पड़ गया और वह छाती दबा कर वहीं बैठ गया। बैठे-बैठे सोचने लगा - “करनी का फल तो भोगना ही पड़ेगा, पलायन करने से काम नहीं चलेगा। जब कुत्ते के कान में कीड़े पड़ जाते हैं और वे काटते हैं तो वह कान

फड़फड़ाता हुआ इधर से उधर, उधर से इधर भागता फिरता है, अंधेरे में जाकर बैठता है। वह समझता होगा कि अंधेरे में कीड़ों से काटने से बच जाऊँगा। उस बेचारे को यह पता नहीं कि दुःख का कारण बाहर नहीं, मेरे कान के अन्दर ही विद्यमान है। यही स्थिति हमारी है। कर्म के कीड़े तो हमारे ही अन्दर हैं न ? इधर-उधर भागने से क्या होगा ? कर्म तो पीछा छोड़ेंगे नहीं ? अज्ञान दशा में जो भी बाहर के उपाय हम करते हैं, वे सब झूठे हैं।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी कहते हैं - “अनादि-निधन सभी वस्तुयें भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी मर्यादा में परिणामित होती हैं। कोई किसी के आधीन नहीं है, कोई किसी के परिणामित कराने से परिणामित नहीं होती। परमाणु-परमाणु का परिणामन स्वतंत्र है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता-धर्ता-हर्ता नहीं है।

ज्ञानेश के सम्पर्क में आने के पहले जब धनश्री को तत्त्वज्ञान नहीं था; तब वह भी निरन्तर यह सोच-सोचकर दुःखी रहती थी कि - “माँ की, मेरी, रूपश्री की और मेरे भाई जीवन्धर की जो दुर्दशा हुई, इसका एक मात्र कारण मेरे पिता हैं। उनके दुर्व्यसनों के कारण हम कहीं के नहीं रहे।”

जब से धनश्री धर्मपुरुष ज्ञानेश के सम्पर्क में आई, ज्ञानेश से तत्त्वोपदेश सुना-समझा और धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों की श्रद्धावान बनी, तब से जब कभी उसे बचपन की याद आती है तो वह सोचती है कि - “मैं भूल में थी, तब कुछ समझती नहीं थी। इस कारण सारा दोष पिताजी के माथे मढ़ा करती थी। “वस्तुतः जगत में जितने जीव हैं, वे सब अपने किये पुण्य-पाप का ही फल भोगते हैं, दुःखी-सुखी करनेवाला यदि अन्य कोई हो तो हमारे द्वारा किये गये पाप-पुण्य का क्या होगा ? अतः किसी अन्य को अपने दुखों का कारण मानना, दूसरों के दोष देखना मूर्खता है। कोई भी पर पदार्थ भला-बुरा नहीं है,

इष्ट-अनिष्ट नहीं है। अपने राग-द्वेष एवं अज्ञान से ही वे हमें भले-बुरे प्रतीत होते हैं।”

धनश्री को जब भी पूर्व दुःखद स्मृतियाँ सतातीं तो वह तुरंत ही पुराण पुरुष राम, हनुमान, सीता, द्रोपदी, अंजना जैसे पुण्यात्माओं के आदर्श जीवन और उन पर आयी अप्रत्याशित विपत्तियों को याद करके मन ही मन समाधान पा लेती। यदि पुराण पढ़कर उनके पात्रों से प्रेरणा न ले सके, कुछ सबक न सीख सके तो पुराण पढ़ने का प्रयोजन ही क्या रहा ?

वैसे तो शास्त्र और पुराणों के माध्यम से एवं देव-गुरु के धर्मोपदेश पर अमल करने से धनश्री एवं धनेश को अब सहज ही चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते धर्मध्यान होने लगा। फिर भी वह दोनों सांध्यकालों में दो-दो घड़ी शान्ति से एकान्त में बैठकर मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक परमात्मा वाचक मंत्रों का एवं आत्मा-परमात्मा के स्वरूप का स्मरण करके चित्त को एकाग्र करने का पुरुषार्थ भी करती, ताकि उपयोग में आत्मस्थ होने की पात्रता प्रगट हो सके।

धनश्री ने धनेश को संबोधित करते हुए कहा - “जिसतरह हमें अज्ञान अवस्था में अपने आर्त-रौद्रध्यान रूप पापभावों की पहचान नहीं थी; इसीतरह बहुत से लोगों को अपने विशुद्ध भावों का भी पता नहीं होता। इसकारण वे घबराते हैं, सोचते हैं कि - हाय ! हम क्या करें ? धर्मध्यान तो हमसे होता ही नहीं है, हम तो कभी धर्मध्यान करते ही नहीं हैं। हम कभी दस मिनट बैठकर मन को एकाग्र कर नहीं पाते। अतः हमें धर्मध्यान की प्राप्ति कैसी होगी ?”

पर, उन्हें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है, चिन्ता करने से कुछ होता भी नहीं है। महापुरुषों की संगत से धर्म का यथार्थ ज्ञान होने

पर तथा कर्म के सिद्धान्त का परिचय होने पर धर्मध्यान स्वयमेव होने लगता है।

धार्मिक सिद्धान्तों के सहारे अपने में समता भाव जगाना ही तो धर्मध्यान है; वह एकान्त में बैठकर भी हो सकता है और चलते-फिरते भी होता रहता है। अतः निश्चिन्त होकर देह और आत्मा को, निज और पर को पृथक्-पृथक् जानने का अभ्यास करें। शास्त्राभ्यास से पर में एकत्व-ममत्व एवं कर्तृत्व-भोक्तृत्व की धारणा को निर्मूल करें।

धर्मध्यान करने में सबसे बड़ी बाधा नशे की आदत है, जिसे हम बिल्ली पर हुए प्रयोग से समझ सकते हैं। एक बिल्ली को २४ घण्टे एक जाली के अन्दर भूखा रखा, उसके बाद एक चूहा छोड़ा गया, बिल्ली ने प्रथम प्रयास में ही उसका शिकार करके भूख मिटा ली। दूसरे दिन फिर २२ घण्टे बाद पहले उसे एक कप दूध में थोड़ी-सी भंग पिलाई, और थोड़ी देर में फिर चूहा छोड़ा तो अनेक प्रयत्न करने पर भी वह चूहा को नहीं पकड़ सकी; क्योंकि भंग के नशे ने उसके चित्त को भ्रमित और शरीर को शिथिल कर दिया था। इसीप्रकार जो नशा करता है, वह अपने लक्ष्य में कभी सफल नहीं होता और धर्मज्ञान एवं आत्मज्ञान के बिना कोई भी आसन और प्राणायाम आदि क्रियायें हमें धर्मध्यान की मंजिल पर नहीं पहुँचा पायेंगी।”

पुण्य के उदय से और ज्ञानेश के सान्निध्य से धनेश और धनश्री के जीवन में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ, वह सभी को अनुकरणीय है।



सच्चा मित्र वह जो दुःख में साथ दे

नशे और सिगरेट से धनेश का लीवर और फेफड़े खराब हो गये थे। ये दो ऐसे प्राण-लेवा मर्ज हैं जो मरीज को कहीं का नहीं छोड़ते। इनसे मरीज को वेदना तो मरणतुल्य होती है, पर वह जल्दी मरता भी नहीं है। खाँसते-खाँसते हाल बेहाल हो जाता है। ऐसी दयनीय दुर्दशा हो जाती है कि देखनेवालों को भी रोना आ जाये।

धनेश को दमा के दौरें दिन में एक-दो बार नहीं, अनेक बार आने लगे। दौरों से दम घुटने लगता, दम घुटने से वह पसीना-पसीना हो जाता। बेचैनी बढ़ने से वह अधीर हो उठता, दुःखद स्थिति में धैर्य धारण करने का वह संकल्प डगमगाने लगता, जो उसने ज्ञानेशजी के उपदेश से अभी-अभी किया था। उसे ऐसा लगता कि मानो ज्ञानेश द्वारा दिया गया पुण्य-पाप के फल में धीरज रखने का उपदेश उसके धैर्य की परीक्षा ले रहा हो।

यद्यपि धनश्री को मानवीय कमजोरी के कारण कभी-कभी अपने दुर्भाग्य पर और पति के दुर्व्यसनों पर भारी झुंझलाहट होती तथा खीज भी खूब आती, पर उसके हृदय में धनेश के प्रति असीमित आदरभाव था, हार्दिक प्रेम था, सहानुभूति थी, समपर्ण भी था। क्यों न होता ? भारतीय संस्कृति में पति को परमेश्वर तुल्य मानने के संस्कार जन्म से ही दिए जाते हैं न ! धनेश को सन्मार्ग पर लाने का श्रेय ज्ञानेश के सिवाय यदि किसी को जाता है तो वह एक मात्र उसकी धर्मपत्नी धनश्री को ही है। धनश्री का मानना रहा कि ‘पाप से घृणा करो पापियों से नहीं।’ पापी तो एक दिन पाप का त्यागकर परमात्मा तक बन जाते

हैं। इस कारण उसने अपने पति धनेश के प्रति बीमारी के समय उसकी दुव्यसनों की आदतों की चर्चा न करके सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार ही रखा और उसकी भरपूर सेवा की।

धनेश की पीड़ा में धनश्री रात-रात भर जागकर पूरा-पूरा साथ देने का प्रयास करती। जब भी धनेश को दौरा पड़ता तो तत्काल धनश्री उसकी पीठ पर हाथ फेरती, उसके आँसू पोंछती। अपनी गोद में उसका सिर रखकर सिर को सहलाती। जरूरत पड़ने पर हाथ-पैर दबाती, नहलाती-धुलाती भी।

सेवा-परिचर्या के साथ-साथ पीड़ा को भुलाये रखने के लिए, पीड़ा से चित्त विभक्त करने के लिए वैराग्यवर्द्धक वैराग्यभावना, बारह भावना के पाठ सुना-सुनाकर संसार के दुःखद और क्षणभंगुर स्वरूप का ज्ञान कराती। कभी कर्मों की विचित्रता की कथा-कहानियाँ सुनाकर समता भाव जागृत करने का प्रयास करती। कभी आध्यात्मिक भजन सुनाकर उसके मन को रमाती। सुनते-सुनते बहुत कुछ पद्य पाठ धनेश को याद भी हो गये, जिन्हें वह स्वयं गुनगुनाया करता।

एक बार धनश्री ने धनेश से पूछा - “अच्छा बताओ ! बारह भावनाओं का संक्षिप्त सार क्या है ?”

धनेश ने बारह भावनाओं का सार बताते हुए कहा - “अनित्य-भावना में संयोगों को क्षणभंगुर अनित्य बताया है। पुत्र परिवार कंचन-कामिनी तेरे साथ सदा रहने वाले नहीं हैं। या तो ये तेरा साथ छोड़ देंगे अथवा तू स्वयं इनसे चिर विदाई ले लेगा। अतः हे भव्य ! तू ही इनसे मोह तोड़ दे और अपने अमर आत्मा का अवलम्बन लेकर परमात्मा बन जा।

79

अशरण भावना में यह कहा है कि - वियोग होना संयोगों का सहज स्वभाव है, ऐसी कोई औषधि या मणि मंत्र-तंत्र नहीं है जो संयोगों का वियोग होने से बचा सके। जगत अशरण है, इसमें शरण खोजना ही पागलपन है। निज आत्मा और पंच परमेष्ठी परमात्मा के सिवाय सब अशरण हैं।

संसार भावना में कहा है कि - संसार के संयोगों में जब सुख है ही नहीं तो इन संयोगों की शरण में जाना ही निरर्थक है।

एकत्व भावना में यह कहा गया है कि दुःखों को मिल-जुलकर नहीं भोगा जा सकता। अकेले ही भोगने होंगे।

अन्यत्व भावना में यह बताया है कि - कोई किसी का साथी नहीं हो सकता। जब शरीर ही साथ नहीं देता तो और तो क्या साथ देंगे ?

अशुचि भावना में कहा गया है कि - जिस देह से तू राग करता है, वह देह अत्यन्त मलिन है, मलमूत्र का घर है।

इसप्रकार प्रारंभ की उपर्युक्त छह भावनायें संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य उत्पन्न कराने में निमित्त हैं। इससे यह आत्मा आत्महितकारी धर्म का स्वरूप सुनने-समझने को तैयार हो जाता है तथा इन भावनाओं के भाने से देहादि पर-पदार्थों से ममत्व कम होता है। शेष छह भावनाओं के द्वारा आस्रव, संवर, निर्जरा आदि तत्त्वों का ज्ञान होता है तथा लोक के स्वरूप की जानकारी होती है।

इन बारह भावनाओं का बारम्बार चिन्तन-मनन करना भी व्यवहार धर्म ध्यान है, क्योंकि इनसे ज्ञान, वैराग्य की ही वृद्धि होती है।”

-- -- --

जब धनेश की तबियत अधिक खराब हो जाती थी तो ज्ञानेश स्वयं धनेश के पास आ जाता और उसे समझाता।

ज्ञानेश ने एकबार धनेश को संबोधित करते हुए कहा – संयोग में प्राप्त वस्तुओं का स्वरूप सर्वज्ञ परमात्मा ने जैसा जाना है, देखा है, वैसा ही निरन्तर परिणमता है। अतः संयोगों को इष्ट-अनिष्ट मानकर सुखी-दुःखी होना निष्फल है। ऐसे विचार से ही समता आती है।”

जितनी देर ज्ञानेश धनेश के पास बैठा रहता और उसे चर्चा में रमाये रहता, तब तक तो उसे दर्द का अहसास ही नहीं होता। थोड़ा-बहुत दर्द की ओर ध्यान जाता भी तो तत्काल विषय बदलकर पुनः बातों में लगा लेता।

“देखो धनेश ! आत्मा-परमात्मा की चर्चा-वार्ता करना भी धर्मध्यान ही है। ध्यान अकेले आँख बंद कर बैठने से ही नहीं, चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते भी होता है। अतः तुम निरंतर ऐसा ही कुछ न कुछ सोचा करो तो पीड़ा से भी बचोगे और पीड़ा चिन्तन आर्तध्यान से भी बचोगे।” इस तरह धनश्री से, ज्ञानेश से तथा अन्य मिलने-जुलने आने वालों से चर्चा-वार्ता करने में धनेश का ध्यान बँटा रहने से दिन तो आराम से कट जाता; पर रात में अकेला पड़ते ही दर्द अधिक महसूस होने लगता।

कुछ बीमारियाँ तो बदनाम ही हैं, जैसे – दमा तो दम लेकर ही जाता है। कैंसर का कोई इलाज नहीं है, टी.बी. भी प्राणलेवा रोगों में एक है। लीवर, किडनी के नामों से भी लोग घबराते रहे हैं।

धनेश उन्हीं रोगियों में एक है, जो अपनी ही भूल से एक साथ ऐसे ही अनेक प्राणलेवा रोगों से घिर चुका है। उसके बचने की अब किसी को कोई आशा नहीं रही है।

पर यह आवश्यक तो नहीं कि प्राणलेवा बीमारियाँ प्राण लेकर

ही जायें। यदि आयुकर्म शेष हो और असाता कर्म का अन्त आ जाये तो बड़ी से बड़ी बीमारियाँ भी समाप्त होती देखीं जातीं हैं।

जिन बीमारियों से पिण्ड छुड़ाना धनेश को पश्चिम से सूर्य उदित होने जैसा असंभव लगने लगा था, वे बीमारियाँ भी डॉक्टरों के प्रयास और धनेश व धनश्री के भाग्योदय से धीरे-धीरे ठीक हो गईं।

धनेश जब लम्बी बीमारी के बाद शारीरिक व मानसिक रूप से पूर्ण स्वस्थ होकर धनश्री के साथ सायंकालीन गोष्ठी में सम्मिलित हुआ तो सभी को प्रसन्नता हुई। ज्ञानेश ने भी हर्ष व्यक्त किया और मुस्कराकर उसको स्वास्थ्य लाभ के लिए बधाई दी और कहा –

“कहो धनेश ! अब तुम्हारी तबियत बिल्कुल ठीक है न ? चेहेरे से अब तुम काफी ठीक लग रहे हो। अब तुम्हें स्वांस की भी वैसी तकलीफ नहीं दीखती जैसी पहले थी। अच्छा हुआ तुम स्वस्थ हो गये। तुम्हारी बीमारी की सभी को चिन्ता थी।”

धनेश ने मुस्कराते हुए औपचारिक भाषा में विनम्र भाव से कहा – “हाँ, आप सबकी शुभकामनाओं से और भली होनहार से बच गया हूँ। बस अब मेरा शेष जीवन आपकी शरण में ही समर्पित रहेगा – ऐसा मेरा दृढ़ संकल्प है।



तेईस

81

ज्ञानेश तो सचमुच ज्ञानेश ही है

ज्ञानेश की अन्तरात्मा से निकले करुण और शांत रस से ओतप्रोत मर्मस्पर्शी उद्गारों ने तो श्रोताओं को प्रभावित किया ही; उसके अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व ने भी आस-पास के वातावरण को सुरभित कर दिया था।

धनश्री, रूपश्री और उनके साथी तो मानो कृतार्थ ही हो गये। इन लोगों को तो ज्योंही अपने पुराने दिन याद आते तो उनके रोंगटे खड़े हो जाते, रूह काँप जाती। इन्हें तो अब ज्ञानेश ही अपने सर्वाधिक शुभचिन्तक लगने लगते थे।

जब कभी फुरसत के समय घंटा आधा घंटा एक साथ बैठते तो बस ज्ञानेश ही उनकी जुबान पर होते।

धनेश कहता - “सचमुच ज्ञानेशजी जैसा व्यक्ति इस युग में तो दिखाई नहीं देता। एक दिन वह था जब मुझे अपनी पढ़ाई पर गर्व था और ज्ञानेशजी पर मुझे मित्र के नाते दया आती थी। उसकी लौकिक शिक्षा सिम्पल ग्रेजुएट तक ही हो पाने का मुझे अफसोस रहा करता था; परन्तु देखते ही देखते वे कहाँ से कहाँ पहुँच गये और मैं अपने को तीसमारखाँ समझने वाला कहाँ जा गिरा ?

मैं जानता हूँ कि यह सब अचानक नहीं हुआ। ये बीज तो उनमें बचपन से ही थे, पर हरएक को ऐसी परख कहाँ होती है ? मैं भी उन्हीं में से एक हूँ, जो उन्हें पहचान ही नहीं पाया। वे सचमुच तो धूल में ढके हीरा निकला।

एक वह, जिस पर आज हम-तुम ही क्या, सारा समाज गर्व करता है। जो एक बार भी उसके सम्पर्क में आता है, वह उन पर समर्पित हो

जाता है। दूसरा मैं हूँ, जो न केवल ज्ञानेशजी की दृष्टि में; बल्कि अपने समस्त समाज की दृष्टि में दया का पात्र बन गया हूँ।

सचमुच यह धर्म का ही कोई अद्भुत प्रभाव है, जिसकी मैंने अबतक कोई कद्र नहीं की। निरन्तर अशुभ भावों में ही जिया। मति के अनुसार गति होनी थी सो हो गई। जब-जब मुझे ऐसा पश्चाताप होता है और मैं ज्ञानेशजी से अपने दिल का दर्द कहता हूँ तो वे कहते हैं - भाई! अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा। तुम ही क्या ? अभी तो हम-तुम सभी एक ही श्रेणी में हैं, स्वभाव से तो सभी भगवान हैं; पर भूले हुए भगवान हैं। सत्य बात समझ में आने का भी अपना स्वकाल होता है। देखो, समय से पहले और भाग्य से अधिक किसी को कभी कुछ भी नहीं मिलता। अतः भूत को भूलो, भविष्य की चिन्ता छोड़ो और वर्तमान में आध्यात्मिक अध्ययन, मनन, चिन्तन करो; भविष्य स्वतः सम्हल जायेगा।”

सेठ लक्ष्मीलाल ने कहा - “हाँ भाई धनेश ! तुम ठीक कह रहे हो। ज्ञानेशजी तो सचमुच ज्ञानेश ही हैं। यदि और कोई होता हो हमें आश्वस्त करने के बजाय, अपनाने के बजाय, बचपन में हुए हमारे दुर्व्यवहार की याद दिला-दिला कर हमें नीचा दिखाता और अपमानित करता। पर ज्ञानेशजी.....! वह तो सचमुच देवता है, देवता।

मुझे ही देखो न ! मैंने अपनी सेठई के अभिमान में जिनकी थोड़ी भी उपेक्षा की, वे आज बड़े क्या बन गए; मुझसे एक-एक बात का बदला लेने पर तुले रहते हैं। ऐसी है जगत की प्रवृत्ति। वह तो ज्ञानेशजी ही ऐसे हैं, जिसने भूत को भुलाकर अपन लोगों पर असीम उपकार किया है। ज्ञानेशजी के कारण ही मुझे धर्म का कुछ-कुछ ज्ञान हुआ है, अन्यथा हम तो सुबह से शाम तक अपने नकली प्रशंसकों और चापलूसों

से धिरे रहकर दानवीर, कर्मवीर, धर्मवीर आदि विशेषणों से युक्त प्रशंसा की मदिरा पीकर पागल हो रहे थे और न्याय-अन्याय से अर्जित धन को उनके कहे अनुसार पानी की तरह बहा कर उससे प्रसन्न हो कर परिग्रहानन्दी खोटा रौद्रध्यान कर रहे थे।

हमें अपने शुभ-अशुभ भावों की कुछ भी पहचान नहीं थी। हमने कभी सोचा ही नहीं कि - इन भावों का फल क्या होगा ? सचमुच यदि ज्ञानेश के रूप में वह धर्मावतार न मिला होता तो हमने तो नरक जाने की ही तैयारी कर ली थी। धन्य है इस सत्पुरुष को। यह दीर्घायु हो और हम सबके कल्याण में निमित्त बना रहे - मेरी तो यही मंगल भावना है।”

मोहन यह सब सुन-सुनकर गद्गद् हो गया। आँसू पोंछते हुए बोला - “यदि हम लोगों को ज्ञानेश का सत्समागम न मिला होता, उनसे प्रेरणा और आश्वासन न मिला होता, उनकी अमृतमय वाणी सुनने को नहीं मिली होती तो हम तो दुर्व्यसनों की दल-दल में से निकल ही नहीं पाते। ज्ञानेशजी के प्रवचनों के अलावा उनके पवित्र जीवन से भी प्रेरणा मिली है। आज मैं जो कुछ भी समझ सका हूँ, ज्ञानेशजी की देन है।”

रूपश्री और धनश्री तो फूट-फूट कर रो ही पड़ी। नारियाँ भावुक तो स्वभावतः होती ही हैं। फिर ज्ञानेश के सत्समागम से इन्हें जो वचनातीत लाभ हुआ था, उससे वे गद्गद् हो रही थीं। वे कुछ न कह सकीं, पर कुछ न कह कर भी उन्होंने उद्धव की गोपियों की भाँति आँसुओं और हिचकियों से सब कुछ कह दिया -

नेकु कही बैननि, अनेक कही नैननि।

रही-सही सोऊ कह दीनी हिचकीनि सौं ॥

82

सेठ लक्ष्मीलाल से चुप नहीं रहा गया। वह पुनः बोला - “देखो, पुण्योदय से मुझे किसी खास आधि-व्याधि ने नहीं सताया, कोई मानसिक चिन्तायें नहीं रही, शारीरिक रोग नहीं हुए तो मैं यश एवं प्रतिष्ठा के प्रलोभन में आकर समाजसेवा की उपाधियों में ही उलझ गया। समाजसेवा का काम भी पवित्र भाव से नहीं कर पाया। उनमें भी यश, प्रतिष्ठा का लोभ तो रहा ही, साथ में व्यक्तिगत स्वार्थ भी कम नहीं रहा। यदि ज्ञानेश जैसे सत्पुरुष को समागम न मिला होता तो मैं उन अशुभ भावों की कीचड़ से निकल ही नहीं पाता।

एक प्रवचन में ज्ञानेश ने कहा था कि - “जो व्यक्ति राष्ट्रसेवा एवं समाज सेवा के नाम पर ट्रस्ट बनाकर अपने काले धन को सफेद करते हैं और उस धन से ‘एक पंथ अनेक काज’ साधते हैं - उनकी तो यहाँ बात ही नहीं है; उनके वे भाव तो स्पष्टरूप से अशुभ भाव ही हैं। सचमुच देखा जाय तो वे तो अपनी रोटियाँ सेकने में ही लगे हैं। वे स्वयं ही समझते होंगे कि सचमुच वे कितने धर्मात्मा हैं; पर जो व्यक्ति अपने धन का सदुपयोग सचमुच लोक कल्याण की भावना से जनहित में ही करते हैं, उसके पीछे जिनका यश-प्रतिष्ठा कराने का कतई/कोई अभिप्राय नहीं होता, उन्हें भी एक बार आत्मनिरीक्षण तो करना ही चाहिए, अपने भावों की पहचान तो करना ही चाहिए कि उनके इन कार्यों में कितनी धर्मप्रभावना है, कितनी शुभभावना है और कितना अशुभभाव वर्तता है? आँख मींचकर अपने को धर्मात्मा, दानवीर आदि माने बैठे रहना कोई बुद्धिमानी नहीं है।”

ज्ञानेश के उस उपदेश ने मेरी तो आँखे ही खोल दीं। मेरे तो जितने भी निजी ट्रस्ट हैं, उन सबके पीछे मेरे व्यक्तिगत स्वार्थ जुड़े हैं। सचमुच

मेरे ये कार्य शुभभावों की कोटि में भी नहीं आयेंगे, धर्म की बात तो बहुत दूर रही।

अनाथालय, विधवाआश्रम और महिला कल्याण केन्द्रों में रहनेवाले अनार्थों को स्वावलम्बी बनाने के बजाय और उनका सही तरीके से भरण-पोषण करने के बजाय उनका शारीरिक, आर्थिक व मानसिक रूप से शोषण की ओर मेरा ध्यान ही नहीं गया।

यदि ये ट्रस्ट और संस्थाएँ सही ढंग से चलते रहें, अपने-अपने पावन उद्देश्यों की पूर्ति करते रहें तो शुभभाव होने से पुण्यबंध के कारण बनते हैं। जब तक वीतराग धर्म की प्राप्ति न हो सके। तबतक निस्वार्थ भाव और पावन उद्देश्य से ये ही कार्य करने योग्य है।

ज्ञानेश के ऐसे युक्तिसंगत और क्रान्तिकारी विचारों को स्मरण करते हुए सेठ लक्ष्मीलाल ने कहा - “ज्ञानेश के प्रवचनों से मेरा जीवन तो सुधरा ही, अन्य नवागंतुक श्रोता भी प्रभावित हुए तथा विराग के साथ आया उसका अनुज अनुराग का जीवन भी आमूलचूल बदल गया।”

एक बार की बात है - अहिंसा के पुजारी के रूप में प्रसिद्ध एक बहुत बड़े राजनेता जिन्होंने पशुवध बन्द करने का आन्दोलन छेड़ रखा था और जिन्हें इस बात का गर्व था कि ‘मैं जीवों की रक्षा करता हूँ, कर सकता हूँ’ एक बार प्रसंगवश ज्ञानेश की सभा में पहुँच गये। संयोग से उस समय ज्ञानेश का व्याख्यान भी अहिंसा पर हो रहा था। वे कह रहे थे - “जो ऐसा मानता है कि - मैं किसी को बचाता हूँ, बचा सकता हूँ, वह मूढ़ है, अज्ञानी है।”

ज्ञानेशजी के भाषण का उक्त अंश सुनकर नेताजी को पहले तो बहुत ही अटपटा लगा, लगाना ही चाहिए था; परन्तु जब पूरा व्याख्यान

सुना तो वे अहिंसा की गहराई को समझकर बहुत ही प्रभावित हुए और उन्होंने दूसरे दिन भी प्रवचन सुनने की भावना प्रकट की।

83

नेताजी ने मुस्करा कर अपने साथी-सहयोगियों से कहा - ‘मैं उन संत का व्याख्यान पुनः सुनना चाहता हूँ जो मुझे कल मूढ़ कह रहे थे। ‘सचमुच, कोई किसी को मार-बचा नहीं सकता है ? हम तो झूठा अहंकार ही करते हैं। हाँ, हमारे मन में मूक प्राणियों के प्रति जो दया का भाव या निर्दयता का भाव होता है; उससे पुण्य-पाप-बन्ध होता है।’ उस संत की यह बात शत-प्रतिशत सत्य है। तुलसीदासजी ने भी तो यही कहा है - “हानि-लाभ जीवन-मरण, सुख-दुःख विधि के हाथ।”

अर्थात् जीवन में जो आर्थिक हानि-लाभ, जीवन-मरण और सुख-दुःख होते देखे जाते हैं, वे सब अपने-अपने पूर्वकृत पुण्य-पाप कर्मों के फल में ही होते हैं, इन अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ पैदा करना किसी अन्य व्यक्ति के हाथ में नहीं है। अन्य व्यक्ति तो निमित्त मात्र बनते हैं। वे कर्त्ता-धर्त्ता नहीं हैं।

इसप्रकार जो भी ज्ञानेश को सुनता, प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। ज्ञानेश को भी इस बात का संतोष था कि अध्यात्म की बात जन-जन तक पहुँच रही है। लोग अपने शुभ-अशुभ भावों को पहचान कर उस पर गंभीरता से विचार करते हैं कि - मेरे जो शुभ-अशुभ भाव होते हैं, इनका फल क्या होगा? हमने ये तो सोचा ही नहीं। यदि ज्ञानेश का सत्समागम न मिलता हो। हमें यह सन्मार्ग कैसे मिलता?



चौबीस

84

सफलता का रहस्य

विद्याश्रम में चल रहे शिक्षण-शिविर के समापन के अवसर पर ज्ञानेशजी के उपकारों का उल्लेख करते हुए शिविर संचालक श्री लाभानन्द ने कहा - “चींटी की चाल (धीमी गति से) चलनेवाला व्यक्ति भी यदि सही दिशा में चल रहा हो तो देर-अवेर ही सही, पर कभी न कभी तो वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर ही लेता है। इसके विपरीत गरुड़ पक्षी की भाँति हवा की चाल चलनेवाला व्यक्ति भी यदि विपरीत दिशा में चल पड़े या प्रमाद में ही पड़ा रहे, चले ही नहीं तो वह कभी भी अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाता।

भले ही ज्ञानेशजी बाल्यकाल से धर्म के क्षेत्र में चींटी की चाल चले, पर अविरल रूप से सही दिशा में चलते रहने से प्रौढ़ होते-होते अपने स्व-विवेक के सहारे संसार के टेढ़े-मेढ़े रास्तों को पार करके आखिर अपने लक्ष्य की सीमा रेखा तक पहुँच ही गये।

ज्ञातव्य है, कार्य की सफलता में स्वयं का उत्साह, लगन, सम्पूर्ण समर्पण, सक्रियता और आत्मविश्वास का होना अनिवार्य है। इनके सिवाय सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है नैतिक सिद्धान्तों पर टिके रहना, समस्याओं के समाधान स्वयं खोजना तथा सही दिशा में पुरुषार्थ करते रहना।

भली होनहार से ज्ञानेशजी को माता-पिता भी ऐसे संस्कारी और सरल स्वभावी मिले जो ज्ञानेश को स्वतंत्र निर्णय लेने में बाधक बिल्कुल नहीं बने। उन्होंने अपने पुत्रव्यामोह को अपने विवेक पर हावी नहीं होने दिया। समय-समय पर प्रसन्नता प्रगट करके ज्ञानेशजी की धार्मिक, सामाजिक और व्यापारिक गतिविधियों को प्रोत्साहित ही किया।

लाभानन्द ने अपने भाषण में आगे कहा - “ज्ञानेशजी यदि अपने अन्तर्मुखी उग्र पुरुषार्थ द्वारा अपने कर्तव्य पथ पर अडिग नहीं रहते, अपने दृढ़ संकल्प में अविचलित नहीं रहते तो कहीं भी भटक सकते थे। क्या-क्या संकट नहीं झेले उन्होंने ? कैसे-कैसे प्रतिकूल प्रसंग आये उनके सामने, फिर भी वे अपने लक्ष्य से विचलित नहीं हुए।

सच है विचारवान और कर्तव्य-परायण व्यक्ति अपने गन्तव्य पथ में आये सुख-दुख की परवाह नहीं करते।”

आयोजन के विशिष्ट अतिथि के रूप बोलते हुए सेठ लक्ष्मीलाल ने अपने वक्तव्य में कहा - “यद्यपि गृहस्थावस्था में आवश्यकतानुसार धनादि के संग्रह करने का निषेध नहीं, फिर भी उसके प्रति आसक्ति का निषेध तो है ही। मैं तो इसे ही सर्वस्व समझे बैठा था; ज्ञानेशजी ने एक बार ठीक ही कहा था कि यदि इस धन-दौलत के संग्रह करने में और इन्द्रियों के विषयों में आनन्द मानने रूप पापभावों में ही जीवन चला गया तो निश्चित ही नरक के दुःख भोगने होंगे। अतः जीवन के रहते इनसे ममत्व कम करके शीघ्र ही आत्मा-परमात्मा की शरण में पहुँचना होगा। सचमुच यह भौतिक उपलब्धि कोई उपलब्धि नहीं है। उनके इस कथन से मेरी आँखें ही खुल गईं।”

सेठ लक्ष्मीलाल ने भौतिक उपलब्धि की निरर्थकता का बोध कराने वाली एक बोधकथा भी कही थी - जो इसप्रकार है -

स्वामी विवेकानन्द नदी के किनारे खड़े नौका की प्रतीक्षा कर ही रहे थे कि - एक सन्त ने आकर उनसे पूछा - ‘आप यहाँ बहुत देर से खड़े-खड़े किसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ?’

विवेकानन्द ने कहा - ‘मैं नौका की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।’

सन्त ने बड़े गर्व से कहा - ‘इतने बड़े सन्त होकर इस दो टके के नाविक के आधीन हो ! मेरी भाँति पानी के ऊपर चलने की साधना करके स्वाधीन क्यों नहीं हो जाते ?’

इतना कहकर सन्त गर्व से सीना ताने पानी पर चलकर कुछ ही क्षणों में नदी के उस पार पहुँच गये। पुनः पानी पर चलकर ही वापिस आए और विवेकानन्द के सामने अहंकार की मुद्रा में खड़े हो गये।

स्वामी विवेकानन्द ने पूछा – ‘महात्मन् ! आपको इस भौतिक उपलब्धि की साधना में कितना समय लगा ?’

सन्त का उत्तर था – ‘पूरे बारह वर्ष।’

विवेकानन्द ने कहा – ‘जो काम एक-दो रुपया में हो सकता है उसके लिए आपने जीवन के अमूल्य बारह वर्ष खो दिए। यदि इन बारह वर्षों में आत्मा-परमात्मा की साधना-आराधना करते तो आप परमपद पर प्रतिष्ठित होते। यह भौतिक उपलब्धि भी कोई उपलब्धि है ? इससे आपको जो अहंकार हो गया, जानते हो अहंकार का फल क्या होगा ?’

स्वामी विवेकानन्द की उक्त बोधकथा से सेठ लक्ष्मीलाल ने स्वयं तो यह सबक सीखा ही कि अपने जीवन का क्रीम टाइम खोकर नैतिक/अनैतिक तरीकों से अपने भोग-विलास और नाम के लिए करोड़ों रुपया कमा लेना सचमुच कोई उपलब्धि नहीं है। हमें अपने अमूल्य समय और न्यायोपात धन का निस्वार्थ भावना से जनहित के कामों में ही सदुपयोग करना चाहिए।

अन्त में अपने अध्यक्षीय भाषण में ज्ञानेशजी ने सफल व्यापारी की तुलना भ्रामरी वृत्ति और सिंह वृत्ति से की। उन्होंने कहा – ‘जिसतरह भौरा फूलों को हानि पहुँचाये बिना उसका रस चूसता है, सिंह पेट भरने के बाद अनावश्यक शिकार नहीं करता, भले ही उसके चारों ओर हिरण

आदि पशु घूमते रहें। इसी तरह सफल व्यापारी ग्राहक को हानि पहुँचाये बिना उचित मुनाफा ही लेता है।

85

असफल व्यापारी की तुलना हम गिद्ध और बाघ से कर सकते हैं। जिसतरह बाघ पेट भर जाने के बाद भी क्रूर और हिंसक प्रवृत्ति के कारण पशुओं का शिकार कर-करके लाशें बिछा देता है, उसीतरह असफल व्यापारी नीति-अनीति की परवाह न कर पेट भरने के बाद भी पेटी भरने के लालच में संग्रह करता ही रहता है। यही परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान है।’

सेठ लक्ष्मीलाल की ओर संकेत करते हुए ज्ञानेशजी ने मजाक के मूड में कहा – हम अभी तक लक्ष्मीलाल बनकर उसकी सेवा ही करते रहे अब – ‘हमें पुण्य और पुरुषार्थ से प्राप्त लक्ष्मी का लाल नहीं उसका कान्त बनना है, उसका सेवक नहीं स्वामीपना है। लक्ष्मीकान्त बनकर लक्ष्मी का सत्कार्यों में सही-सही उपयोग करना है।

देखो, हम लोगों ने वर्तमान में हो रहे अपने भावों की समीक्षा द्वारा आर्त-रौद्र रूप खोटे भावों को दृष्टि में रखते हुए विचार-विमर्श किया, अपनी वर्तमान शुभ-अशुभ परिणति को समझने की कोशिश की तथा संसार-सागर में डूबने की कारणभूत इस शुभाशुभ परिणति से मुक्त होने के उपायों पर भी संक्षेप में चर्चा की।

इसीप्रकार अपने ज्ञान को आत्मकेन्द्रित करके हम काम-क्रोधादि विकारों को नष्ट कर सकते हैं। यह धर्मध्यान का सुफल है। इसतरह हम कह सकते हैं कि जिसप्रकार सूर्य की विकेन्द्रित किरणें जब लेंस के द्वारा केन्द्रित कर लीं जाती हैं तो उससे भोजन तो पक ही जाता है, सोलर आदि से पानी का टैंक भी गरम हो जाता है। उसीप्रकार जो व्यक्ति बहिर्मुखी मानसिक वृत्ति को अन्तर्मुखी बनाता है। पाँच इन्द्रियों

व मन के द्वारा विकेंद्रित ज्ञान किरणों को अन्तर्मुखी पुरुषार्थ से आत्मा पर केन्द्रित करता है। वह ज्ञान को केन्द्रित करने की प्रक्रिया ही धर्मध्यान है। आत्मज्ञान के बिना आत्मध्यान या धर्मध्यान संभव नहीं है और धर्मध्यान के बिना सच्चे ध्येय की प्राप्ति संभव नहीं है। ध्रुवधाम आत्मा के जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है और उसे जानते रहने का नाम सम्यक्चारित्र है, निश्चय धर्मध्यान है – ऐसे ध्यान से ही आत्मा पूर्ण पवित्र होकर पूर्णता की प्राप्ति कर लेता है, कर्मबंधन से मुक्त हो जाता है।

जबतक पूर्व परम्परागत कर्ताबुद्धि से पर में किसी प्रकार से परिवर्तन करने/कराने की मान्यता या सोच रहेगा, तबतक मन की वृत्ति/प्रवृत्ति पर नियंत्रण संभव नहीं है। **ये तो अब तक सोचा ही नहीं।**”

शिविर के समापन के साथ ‘ध्यान’ विषय का उपसंहार करते हुए ज्ञानेशजी का जो भाषण हुआ, उससे सभी श्रोताओं के स्मृति-पटल पर चलचित्र के चित्रपट की भाँति सम्पूर्ण शिविर में चर्चित विषय प्रतिबिम्बित हो गया।

सभी श्रोताओं ने मन ही मन अपने ज्ञान-गुरु ज्ञानेशजी का धन्यवाद ज्ञापन करते हुए और उनके स्वास्थ्य एवं दीर्घजीवन की मंगल कामना करते हुए अगले शिविर की सूचना के साथ अन्त में राष्ट्रीय गीत की ध्वनि प्रसारित की गई।



अध्यात्म रत्नाकर पण्डितश्री रतनचन्दजी भारिल्ल के प्रति मुनिराजों के आशीर्वचन

बहुत-बहुत मंगल आशीर्वाद

● राष्ट्रसंत आचार्य श्री विद्यानन्दजी महाराज

धर्मानुरागी विद्वान पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल वर्तमान जैनसमाज के उच्चकोटि के विद्वानों में से एक हैं। वर्तमान में वे जिसप्रकार एक दीपक से हजारों दीपक जलते हैं, एक बीजान्न से अनेक बीजान्न उत्पन्न होते हैं, उसीप्रकार अनेक विद्वानों को तैयार कर जिनवाणी की महान सेवा कर रहे हैं।

पण्डितजी एक सिद्धहस्त एवं आगमनिष्ठ लेखक भी हैं। उनका ज्ञान अत्यन्त प्रमाणिक है, जो उनकी प्रत्येक कृति में अभिव्यक्त हो रहा है, चाहे वह ‘जिनपूजन रहस्य’ हो, चाहे ‘गमोकार महामंत्र’। मुझे उनकी किसी भी कृति में एक अक्षर भी आगमविरुद्ध लिखा नहीं मिला।

उनके सार्वजनिक अभिनन्दन के इस अवसर पर मेरा बहुत-बहुत मंगल आशीर्वाद है, वे स्वस्थ एवं दीर्घायु होकर विद्वानों को तैयार करते रहें और श्रेष्ठ साहित्य का सृजन करके साहित्य सेवा भी करते रहें। □

अत्यन्त सरल स्वभावी विद्वान

● आचार्यश्री धर्मभूषणजी महाराज

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल अत्यन्त सरलस्वभावी व जिनागम के ज्ञाता विद्वान हैं। उन्होंने अत्यन्त सरल शब्दों में श्रावकाचार, जिनपूजन रहस्य जैसी अनेकों जैनधर्म की सामान्य परन्तु महत्वपूर्ण ज्ञानवर्द्धक पुस्तकों की रचना की है। अभी उन्होंने शलाकापुरुष एवं हरिवंशकथा जैसी प्रथमानुयोग की अनुपम पुस्तकों का भी सुन्दर लेखन किया है। पण्डित रतनचन्द भारिल्ल जैन समाज में इसीप्रकार जिनवाणी का प्रचार-प्रसार करते रहें – हमारा यही मंगल शुभ आशीर्वाद है। □

कोटिशः शुभाशीष

● आचार्यश्री भरतसागरजी महाराज

धर्मानुरागी पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल समाज के सुयोग्य विद्वान हैं और अच्छे तत्त्वप्रचारक हैं। समाज ने इनका अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित करने का सफल प्रयास किया है, जो प्रशंसनीय है। समाज इसीप्रकार सरस्वती पुत्रों का सम्मान करती रहे, जिससे विद्वानों के द्वारा जिनवाणी का प्रचार-प्रसार हो सके। अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति को कोटिशः शुभाशीष सद्धर्मवृद्धिरस्तु। □

मेरा उनको पुनः पुनः आशीर्वाद है

● अध्यात्मयोगी वयोवृद्ध मुनिराज श्री निर्वाणसागरजी महाराज

मैंने पण्डितजी के व्याख्यान अनेक बार सुने, ललितपुर के विधान में, विदिशा के पंचकल्याणक में, अशोकनगर के पंचकल्याणक में मैं था, पण्डितजी वहाँ आये थे। थूबोनजी में भी पण्डितजी आये थे। उनके प्रवचन बहुत सरल और व्यावहारिक होते हैं। मैंने उनके द्वारा अनुवाद किए समयसार के प्रवचन भी पढ़े, कहीं भी कोई आगमविरुद्ध बात नहीं है। उनका साहित्य निर्विवाद और अत्यन्त सरल होते हुए भी आध्यात्मिक है। जिनपूजन रहस्य, णमोकार महामंत्र, विदाई की बेला, सामान्य श्रावकाचार, संस्कार - ये सभी पुस्तकें नवयुवकों के लिए बहुत उपयोगी हैं। प्रथमानुयोग में भी उन्होंने हरिवंश कथा, शलाकापुरुष जैसे ग्रन्थ लिखकर बहुत अच्छा काम किया है। मेरा उनको पुनः पुनः आशीर्वाद है।

धर्मानुरागी विद्वान को मेरा आशीर्वाद

● मुनिश्री विशदसागरजी महाराज

पण्डितप्रवर श्री रतनचन्दजी भारिल्ल ने अपना जीवन सम्यग्ज्ञान की साधना और आराधना में समर्पित किया। भारिल्लजी अध्यात्म योग के साथ समाज को सही दिशा देने के लिए प्रयत्नशील रहकर लेखन कार्य करते हैं। अनेक पुस्तकों को प्रकाशित कर जन-जन के हाथों में पहुँचाने के लिए तथा श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय के माध्यम से छात्रों को जैन सिद्धान्त का ज्ञान कराने के लिए सदैव तत्पर रहनेवाले धर्मानुरागी विद्वान को मेरा आशीर्वाद। □

जिनवाणी के आराध्य

● अनगार ऊर्जयन्तसागरजी महाराज

धर्मानुरागी पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल हम सभी के बीच ऐसे व्यक्तित्व का नाम है, जिसका जीवन जिनवाणी का आराधन करते हुए अपनी प्रज्ञा द्वारा

नव साहित्य सृजन एवं सुयोग्य विद्वानों के निर्माण में व्यतीत हो रहा है। हमारे जयपुर प्रवास में आयोजित विभिन्न धार्मिक समारोह गोष्ठियों आदि में आपने अपने तत्त्वज्ञान से समाज को काफी लाभान्वित किया है।

आपके द्वारा रचित प्रथमानुयोग के शलाका पुरुष भाग एक व दो तथा हरिवंश कथा आपकी लेखनी के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। सहज, सरल व गम्भीर व्यक्तित्व के धनी पण्डितजी का साहित्य और जैन तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार में जो योगदान है, वह अनुपमेय है। पण्डितजी साहब दीर्घजीवी होकर जिनवाणी की इसीप्रकार निरन्तर सेवा करते रहें। यह मेरा मंगल आशीर्वाद है। □

स्मरणीय सेवा

● पण्डिताचार्य भट्टारक श्री चारुकीर्तिजी, जैनमठ, मूड़बिद्री

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल इतनी सादगी से रहते हैं कि प्रथमदृष्टया मिलने पर कोई उनके विशाल व्यक्तित्व का अंदाज भी नहीं लगा पाता और जब उसे उनका परिचय मिलता है तो उनकी सरलता को देखकर मिलनेवाले आश्चर्य चकित हो जाते हैं। पण्डितजी ने सरल लोकभाषा में धर्म के सिद्धान्तों को प्रस्तुत करके अत्यन्त उपकार किया है। उनकी किताबों के कन्नड़ अनुवाद से कन्नड़ की जनता भी उनका उपकार मानती है।

आपने धार्मिक उत्थान के साथ सामाजिक समस्याओं के लिए भी अपनी पुस्तकों में अनेक व्यावहारिक समाधान सुझाकर समाजोत्थान के लिए भी आश्चर्यपूर्ण काम किया है। आपकी सेवाओं को सदैव याद किया जायेगा। □

रतनचन्द से त्रैलोक्यनाथ बनें

● स्वस्ति श्री भट्टारक चिन्तामणि धवलकीर्ति स्वामीजी, अर्हत्सुगिरि

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल तो चन्द से भी शीतल सरल एवं कर्मठ कार्यकर्ता हैं। उनकी जैन साहित्य की मौलिक कृतियाँ हर एक मानव की मानवता का उत्थान करनेवाली हैं। उनके लेखन एवं बोलने की शैली भी अर्थ गम्भीरता को सूचित करती है। उन्होंने दक्षिण से लेकर उत्तर तक समस्त भारतभूमि की जनता का उत्थान किया है और अभी भी कर रहे हैं। वे साहित्य के माध्यम से विदेशों में भी पहुँच गये हैं। कुछ लोग जयपुर में बैठकर पत्थर में भगवान का रूप दे रहे हैं तो हमारे रतनचन्दजी जयपुर में बैठकर इन्सान को साक्षात् भगवान बनाने की कला सिखा रहे हैं। वास्तव में उनका जीवन धन्य है। □